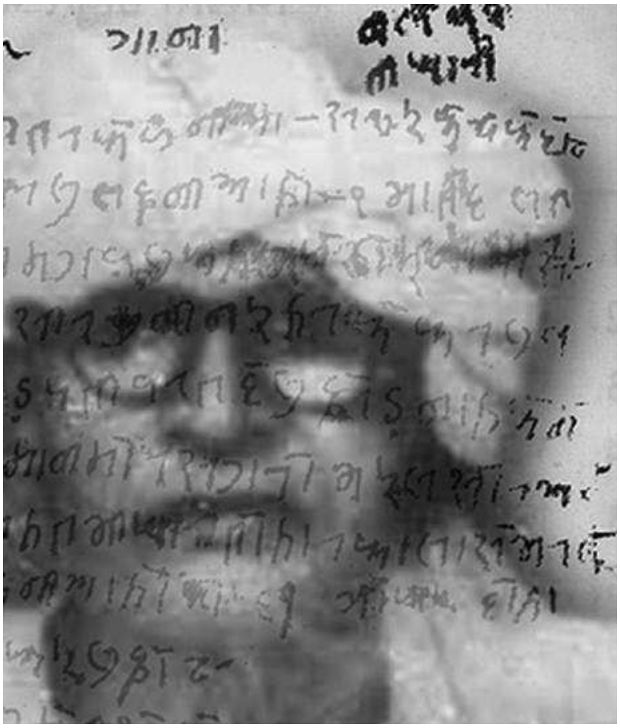
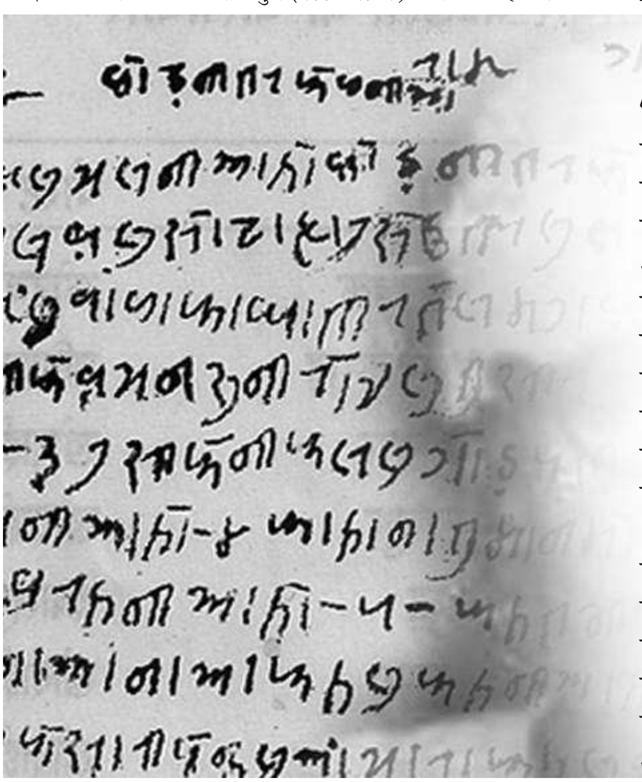
प्रवासी मज़दूर

बिदेसिया लोक-संस्कृति

धनंजय सिंह



'बिदेसिया' के रचयिता भिखारी ठाकुर (1887-1971) और उनकी हस्तलिपि.



यह लेख औपनिवेशिक दौर के सबसे बड़े भाषाई क्षेत्र भोजपुरी प्रदेश से होने वाले श्रम-प्रवसन के परिणामस्वरूप निर्मित 'बिदेसिया' लोक-संस्कृति के बहाने प्रवासी मज़दूरों के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की रचना का प्रयास है। यह लेख इस लोक-संस्कृति के कई पहलुओं पर विचार करता है : 'बिदेसिया' का उद्भव और विकास किस रूप में हुआ है; लोक-संस्कृति में कलकत्ता और कलकत्ता में प्रवासी मज़दूर की उपस्थिति किस रूप में है; भोजपुरिया श्रमिक समुदाय के लिए रेलगाड़ी औपनिवेशिक दौर में किस तरह प्रवसन का प्रतीक बनी (जिसकी झलक लोक-गीतों में मिलती है); भोजपुरी लोकाभिव्यक्ति में गिरमिटिया मज़दूरों की छवि केवल ग़ुलामी के रूप में होते हुए भी अन्य स्रोत किस तरह उनके मुक्तिकामी आयामों की तरफ़ भी इशारा करते हैं; पति के प्रवसन के दौरान दाम्पत्य जीवन में किस तरह आशा-निराशा की कहानी की नींव तैयार होती है; मौखिक परम्परा में दाम्पत्य जीवन में नैतिक आग्रह और यौन-पवित्रता का सवाल किस रूप में है? इसी के साथ-साथ यह अनुसंधान यह भी जानने का प्रयास करता है कि

भोजपुरी क्षेत्र से मजबूरीवश पलायन करने वाली 'उढ़री' औरतों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक छवि किस रूप में अभिव्यक्त हुई है, और उनके प्रति लोक-समझ ने किस तरह का सामाजिक-सांस्कृतिक बरताव किया है ?

दरअसल भारत के उपनिवेश बनने के पहले से ही भोजपुरी प्रदेश से श्रम-प्रवसन की एक लम्बी परम्परा रही है, लेकिन 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेज़ी सरकार ने इस क्षेत्र के ज़मींदारों व नबाबों को सबक सिखाने के लिए उनकी तरफ़ से आँखें पूरी तरह से फेर लीं। इसका फल भुगतना पड़ा आम जनता को। अंग्रेज़ों व ज़मींदारों की दोहरी मार और प्राकृतिक प्रकोपों की वजह से लोग बड़ी संख्या में भारत के बड़े नगरों, जैसे कलकत्ता की जूट मिलों, असम के चाय बाग़ानों, बिहार की कोयला खदानों और मुम्बई की सूती मिलों में मज़दूरी के लिए एक जगह से दूसरी जगह भटकने लगे। इन्हीं में से कुछ दूसरे उपनिवेशों में भी गये या भेज दिये गये। उन दिनों श्रम-प्रवसन अपने चरम पर था। 'बिदेसिया' लोक-संस्कृति औपनिवेशिक काल में हुए श्रम-प्रवसन की देन है। उसके आर्थिक पहलू जितने बड़े हैं, उतनी ही बड़ी वह सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटना है। दरअसल 'बिदेसिया' शब्द उस पुरुष को सम्बोधित था, जो अपनी पत्नी को गाँव में छोड़ कर बाहर रोज़ी कमाने चला गया था। 'बिदेसिया' अपने पति को पत्नी द्वारा दिया गया एक लोकप्रिय शैली का संबोधन है, जिसे एक नयी लोक-संस्कृति की संज्ञा मिली। यह लोक-संस्कृति इसी प्रवास के फलस्वरूप पैदा हुई। इस लोक-संस्कृति ने अनेक कला-रूपों को जन्म दिया, जैसे नौटंकी, नाटक, लोक-गीत, लोक-चित्रकला आदि। कुल मिला कर यह एक सम्पूर्ण लोक-संस्कृति है। इसका उद्‌भव और विकास प्रवासी भोजपुरियों के आर्थिक संसाधनों से ही हुआ है।[1]

'बिदेसिया' : उद्‌भव और विकास

दो-ढाई सौ वर्ष पहले भोजपुरी प्रदेश ख़ुशहाल था। लेकिन औपनिवेशिक दौर में एक तरफ़ वि-उद्योगीकरण के फलस्वरूप हिंदुस्तानी शिल्पकारों की बेरोज़गारी से कृषि पर बोझ बढ़ गया। दूसरी तरफ़ औपनिवेशिक शासन द्वारा किसानों को नगदी फ़सलों की खेती के लिए बाध्य किये जाने की वजह भी उनकी बदहाली के ज़िम्मेदार बनी। वैसे भी कृषि पहले से ही मौसम के मिज़ाज पर निर्भर थी। मानसून वक़्त पर न आने का मतलब था खेती का चौपट होना। तमाम फ़सलें मानसूनी थी जिनकी बोआई और कटाई के बाद बेरोज़गारी ही बचती थी। 'कहाँ जाएँ, क्या करें' सवाल ही रह जाता था। 'खेती लायक़ अच्छी भूमि समाज के ऊँचे वर्ग के क़ब्ज़े में थी। निम्न वर्ग के पास निम्न कोटि की भूमि थी।'[2] विपरीत परिस्थितियों की सबसे अधिक मार इसी निम्न वर्ग पर पड़ती थी। तत्कालीन समाज सामंती था जिसमें श्रम का मूल्य नगद नहीं मिलता था और जितना मिलता भी, उससे पूरे परिवार का भरण-पोषण नहीं हो सकता था। भोजपुरी क्षेत्र का जनसंख्या की दृष्टि बहुत सघन होना भी एक कारण रहा है।[3] के.एल. गिलियन ने भोजपुरी क्षेत्र से उच्च वर्ग के लोगों के प्रवसन का कारण उनकी फ़िज़ूलख़र्ची[4] माना है। गिरमिटिया इतिहासकार बृज वी. लाल मानते हैं, 'उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रामीण भारत एक अत्यंत गहन परिवर्तन का अनुभव कर रहा था। यह नये विचारों के परिणामस्वरूप हुआ था।

---

[1] प्रस्तुत लेख भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में किये गये शोध-कार्य (2010-12) के एक अध्याय का संशोधित रूप है। इसके एक शुरुआती संस्करण के लिए देखें, धनंजय सिंह (2008), *भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति और भिखारी ठाकुर का साहित्य,* वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान, नोएडा.

[2] सव्यसाची भट्टाचार्य (2008), *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,* अनुवाद महेश्वर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 68.

[3] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी (1985), *फ़ीजी में प्रवासी भारतीय,* भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली : 146.

[4] के.एल. गिलियन (1973), *फ़ीजीज़ इण्डियन माइग्रेंट्स : अ हिस्ट्री टू द ऐंड ऑफ़ इंडेंचर इन 1920,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मेलबॅर्न : 54-55.



1963 में प्रदर्शित श्वेत-श्याम फ़िल्म 'बिदेसिया' अपने ज़माने में सुपरहिट रही. इसमें सुजीत कुमार और कुमारी नाज़ ने मुख्य भूमिकाएँ निभाईं थीं. उनका साथ दिया था हेलन और बेला बोस जैसी नर्तकी-अभिनेत्रियों ने. लोक-संगीत पर आधारित एस.एन. त्रिपाठी की बेइंतिहा लोकप्रिय धुनों को भी इस फ़िल्म की सफलता का श्रेय जाता है.

जैसे-निजी सम्पत्ति का नवीन विचार, जोत-क्षेत्र का असंख्य भागों में विभाजित होना, कृषकों में बढ़ती क़र्ज़दारी व प्राकृतिक विपदाओं के प्रभाव।'[5] इतिहासकार अर्जन डी हैन ने औपनिवेशिक दौर में श्रम-प्रवसन की पाँच वजहों में से सबसे पहले स्थान पर परिवहन एवं संचार व्यस्था में आये विकास को रखा है।[6] औपनिवेशिक भारत की आधिकारिक रपटों से पता चलता है कि अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में बंगाल और बर्मा कृषि-कार्यों एवं अन्य हथकरघे का काम इस इलाक़े के लोगों के लिए आकर्षण का केंद्र बना हुआ था। प्रवसन के परिणामस्वरुप व्यापक स्तर पर श्रम-विभाजन हुआ। इसके तहत बहुतों ने नये पेशों को चुना, तो कइयों ने अपने परम्परागत श्रम को ही अपनाए रखा।[7]

भोजपुरी क्षेत्र से श्रम-प्रवसन की एक लम्बी परम्परा का संकेत साहित्य में भी मिलता है। मध्यकालीन संत कवियों के पदों में भक्ति के आवरण में 'बिदेस' शब्द का जो प्रयोग मिलता है, वह श्रम-प्रवसन की ओर ही संकेत करता है। 'बिदेसिया' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कब हुआ, बताना कठिन है। लेकिन मध्य-काल में कबीर के शिष्य धरमदास के एक पद में 'परदेस' शब्द का प्रयोग पहली बार देखने को मिलता है, 'मितऊ मड़ैया सुनि करि गैलो। अपने बलम परदेस निकरि गैलो।'[8] यह अलग बात है कि यह पद आध्यात्मिक संदर्भ लिए हुए है। इसी तरह 1850 के दौरान केशवदास

[5] बृज वी. लाल (2005), *फ़ीज़ी यात्रा : आधी रात से आगे*, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली : 5.

[6] अर्जन डी हैन (1997), 'अनसेटल्ड सेटलर्स : माइग्रेंट वर्कर्स ऐंड इण्डस्ट्रियल कैपिटलिज़म इन कैलकटा', मॉडर्न एशियन स्टडीज़, खण्ड 31, अंक 4 : 919-949.

[7] आनंद ए. यांग (1989), *द लिमिटेड राज : एग्रेरियन रिलेशन इन कोलोनियल इण्डिया, सारण डिस्ट्रिक्ट, 1793-1920*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 203.

[8] कृष्णदेव उपाध्याय (1957), *भोजपुरी और उसका साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 43.

नामक एक साधु ने कबीर से प्रेरित होकर अपने एक निर्गुण में प्रवास के लिए 'बिदेस' शब्द का प्रयोग किया है :

भावे नाहीं मोहि भवनवाँ
हो रामा, बिदेस गवनवाँ।
...'केसो दास' गावे निरगुनवाँ
ठाढि गोरी करें गवनवाँ।[9]

ये पंक्तियाँ भी आध्यात्मिक रूप से संदर्भित हैं। दरअसल लोक-गीतों में बिरहा तभी 'बिदेसिया' के होने का प्रमाण देते हैं जब लिखित साहित्य अस्तित्व में नहीं आया था। लेकिन, 'बिदेसिया' का संदर्भ-स्रोत और स्पष्ट होता है 1878 के दौरान 'सुंदरीबाई' और 'दुनियाबाई' के लोकप्रिय गीतों व तमाशों से, जिनका परिवार 1857 के ग़दर से प्रभावित होकर दिल्ली से भोजपुरी क्षेत्र की तरफ़ भाग आया था। 'सुंदरीबाई के नाच' की विषय-वस्तु भी प्रवसन ही थी।[10] तमाशे में सुंदरी कहती है :

आम बगइचा घने बाग, ताही बीच डगर लगी हो।
आमवा के डाढ़ि धरले, नयनवा से नीर ढरे हो।[11]

सुंदरी बाई द्वारा प्रस्तुत यह स्वाँग बीसवीं सदी के तीसरे दशक के दौरान लोगों की ज़ुबान पर था। उन्हीं दिनों ज़िला ग़ाज़ीपुर से बनारस में प्रवासी बिरहा गायक बिहारी लाल यादव की चर्चा भी मिलती है जो मंदिर-उत्सवों पर बिरहा गाते थे। बिहारी लाल रामायण के प्रसंगों में प्रवसन की पीड़ा डाल कर अपनी गायकी प्रस्तुत करते थे।[12] लेकिन बिहारी लाल यादव के बिरहा में भी 'बिदेसिया' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। 1884 में पण्डित बेनीमाधव राम (काशीवासी) के एक लोक-गीत में पहली बार बाहर गये पति के लिए पत्नी का 'बिदेसिया' शब्द का संबोधन मिलता है :

काहे मोरी सुध बिसराये रे 'बिदेसिया'
तड़पत-तड़पत दिन-रैना गुजारे रे....
कहे 'बेनीराम' लागी प्रेम कटारी से
उधोजी के ज्ञान कराये रे 'बिदेसिया'।[13]

इस कड़ी में बक्सर के रामसकल पाठक द्विजराम की गीत-रचना *सुंदरी विलाप* भी शामिल है जो 1906 में और श्रीनाथ शरण द्वारा सम्पादित *प्यारी सुंदरी वियोग* 1910 में गोरखपुर से प्रकाशित बताई गयी है। इसी दौर में 'बिदेसिया' लोक-गीतों की रचना हुई। 'सुंदर सुभूमि भइया भारत के देसवा से, मोर प्रान बसे हिम खोह रे बटोहिया' रघुवीर नारायण के राष्ट्रगीत 'बटोहिया' की रचना के बाद इस धुन और टेक पर 'फिरंगिया' (1921), 'साँवरिया', 'पूरुबवा' जैसे गीतों का सृजन हुआ। इन गीतों में पीड़ा का स्वर है। 'बिदेसिया' का कथानक भी वियोग एवं पीड़ा से पैदा हुआ है। स्त्रियों का मौखिक लोकनाट्य 'डोमकच' में न जाने कब प्रवसन संबंधी विषय-वस्तु ने प्रवेश किया और 'बिदेसिया' लोकनाट्य शैली का रूप धारण कर लिया। इसमें डोमिनी अपने पति डोम को पूरब देश न जाने के लिए समझाती है क्योंकि पूरब की 'जोगिन' औरतें मर्दों को फाँस लेती हैं :

---

9 जी.ए. ग्रियर्सन (1884), *सेविन ग्रामर्स ऑफ़ द डायलेक्ट्स ऐंड सबोर्डिनेट्स ऑफ़ द बिहारी लेंग्वेज पार्ट II, सिलेक्शंस फ्रॉम द भोजपुरी डायलेक्ट्स कंर्जेशंस, फ़ेबिल्स, भोजपुरी सोंग्ज़,* एपेंडिक्स I.

10 तैयब हुसैन 'पीड़ित'(2008), *भिखारी ठाकुर,* साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली : 51.

11 केदार चौधरी (1993), *भिखारी ठाकुर के नाटकों में लोकजीवन,* जे.एन.यू., एम. फ़िल. शोध कार्य, नयी दिल्ली, अप्रकाशित : 63.

12 चंद्रशेखर प्रसाद (1993), सबाल्टर्न आर्टिकुलेशन ऑफ़ एस्पिरेशंस : एग्ज़ामिनिंग द बिदेसिया डांस-ड्रामा फ़ॉर्म ऑफ़ द भोजपुरी रीजन, जे.एन.यू. एम.फ़िल. शोध : 15-16.

13 भारतेंदु हरिश्चंद्र (1958), *हिंदी भाषा* (पटना, खड्गविलास प्रेस, 1882); इसे भी देखें, दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, *भोजपुरी के कवि और काव्य,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना : 142.



1833 में जब दास-प्रथा ख़त्म होने के कारण मॉरीशस, फ़ीज़ी, गुयाना, वेस्टइंडीज़ इत्यादि उपनिवेशों में गन्ने के खेतों में काम करने वाले मज़दूरों की कमी पड़ी। साल भर बाद ... 'ग़ुलामी का दूसरा रूप कुलीप्रथा' की शुरुआत हुई जो पाँच साल के लिए थी। इस प्रथा के अंतर्गत काम करने वाले लोगों को कुली कहा गया। उन्हें गिरमिटिया भी कहा गया। गिरमिटिया 'एग्रीमेंट' का ही भोजपुरीकरण है। उपनिवेशों में भेजे गये ये लोग न केवल कलकत्ता, बम्बई, मद्रास जैसे महानगरों के भर्ती-डिपो में नामांकित हुए थे, बल्कि उनमें से अधिकांश ने अपने प्रांतों में ही पंजीकरण कराया था और उनमें से कई लोगों ने जाने से मना कर दिया था। जाने से पहले उन लोगों को अपने गंतव्य के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था, यहाँ तक कि उन देशों का नाम भी नहीं।

मति जाहू पियवा पुरुबवा के देस,
पूरब देस में जटिनी जोगिनिया से,
अपना ही फाँसे फाँस लेती हैं पियवा।[14]

वस्तुत: डोमकच की इन गीत पंक्तियों में प्रवासी पुरुषों की गाँव-घर रहने वाली स्त्रियों का दर्द उभर कर आया है।

भिखारी ठाकुर का 'बिदेसिया'

'बिदेसिया' लोक-संस्कृति के विकास में एक बड़ा मोड़ तब आता है जब भोजपुरी लोक-मंच पर 1920 ई. के दौरान भिखारी ठाकुर का पदार्पण होता है, हालाँकि इससे पूर्व गोपालगंज ज़िले में मीरगंज के रहने वाले मियाँ रसूल का नाम भी आता है। बीसवीं सदी के पहले-दूसरे दशक से भोजपुरी समाज

---

[14] उषा वर्मा (2000), *मौखिक स्त्री लोकनाट्य 'डोमकच',* 'छायानट', संगीत नाटक अकादेमी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, मासिक पत्रिका अंक-95 : 68-73.

के आमंत्रण पर मियाँ रसूल भी नाच दिखाने कलकत्ता जाया करते थे। कहा जाता है कि कलकत्ता की लाल बाज़ार पुलिस लाइन में रसूल ने एक कविता (1945–46 के आसपास) सुनाई थी :

छोड़ द गोरकी के अब तू ख़ुशामी बलमा।
एकर कहिया ले करब तू ग़ुलामी बलमा।[15]

रसूल के इस गाने ने सिपाहियों को इतना प्रभावित किया कि कइयों ने नौकरी छोड़ दी। निःसंदेह भिखारी ठाकुर की महानता में कुछ योगदान रसूल का भी है। वे भिखारी ठाकुर से दस-पंद्रह वर्ष बड़े थे। रसूल की ही तरह भिखारी ठाकुर को भी रोज़ी-रोटी के लिए बंगाल जाना पड़ा था। उन्होंने लिखा है : 'गइली मेदिनीपुर के जीला / ओहिजे देखली कुछ रामलीला।'[16] वहाँ की लोकसांस्कृतिक नाट्य-शैलियों से प्रेरित हो कर गाँव आने पर रोज़ी-रोटी के लिए उन्होंने नाच मण्डली बनायी। पहले पहल रामलीला की, फिर बनाया एक तमाशा जिसे नाम दिया 'बहरा बहार',[17] जो बाद में 'बिदेसिया' के नाम से लोकप्रिय हुआ। दरअसल उनकी 'बिदेसिया' नाट्य-रचना गाँव और शहर के बीच बँटी ज़िंदगी की दास्तान है। नायक बिदेसी गौना कराने के बाद अपनी पत्नी प्यारी सुंदरी को छोड़ कर शहर कलकत्ता कमाने चला जाता है। वहाँ कड़ी मेहनत करते हुए अपनी महिला सहकर्मी को पत्नी बना कर उसके साथ रहने लगता है। तत्कालीन समाज ऐसी स्त्रियों को 'रखैल', 'रखेलिन' या 'रण्डी' के रूप में देखता था। इधर गाँव में प्यारी सुंदरी पति के वियोग में कलपती है। पति के बिना उसे जीवन पहाड़ लगने लगता है : 'केकरा से आग माँगब केकरा से पानी / खाला-उँचा गोड़ परी चढ़ल बा जवानी।'[18] वियोग में भी वह पति का ही अलख जगाने का संकल्प लेती है : 'बिरह के कुपवा में, जोगिनी के रूपवा में / तोहरे के अलख जगाइब हो बलमुआँ।'[19] इसी बीच प्यारी सुंदरी को कलकत्ता कमाने जा रहा एक बटोही मिलता है। वह उसे अपनी सारी व्यथा सुनाती है। बटोही प्यारी सुंदरी को सांत्वना देकर कलकत्ता पहुँचता है। खोजते-खोजते वह वहाँ पहुँचता है जहाँ बिदेसी अपनी रखैल सलोनी के साथ ताश खेल रहा है : 'बइठि के सलोनी पास, खेलत रहलन तास।'[20] यहाँ भिखारी ठाकुर ने ताश, रण्डीबाज़ी, जुआख़ोरी इत्यादि के ज़रिये मज़दूर वर्ग की कमज़ोरियों की ओर संकेत किया। पहले तो बटोही उस निर्मोही कलकतिया बिदेसी की भर्त्सना करता है और फिर रखैल को देखकर वह बिदेसी से वेश्या के ख़तरों से सावधान करता है :

छोड़ि दऽ अधरम, मिज़ाज कके नरम तू, मनवा में कर लेहु सरम 'बिदेसिया'।
धरम के नाव पर, चढ़ि के मउज कर, हर बिरहिनिया के दुख हो 'बिदेसिया'।[21]

---

[15] सुभाष चंद्र कुशवाहा, *क्यों गुमनाम रहे लोककलाकार रसूल?*, लोकरंग सांस्कृतिक समिति, कुशीनगर ,उत्तर प्रदेश, http://www.lokrang.in/lokrang-new/?page_id=76.

[16] वीरेंद्रनारायण यादव व नागेन्द्र प्रसाद सिंह (2005)(सम्पा.), *भिखारी ठाकुर रचनावली*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना : 312.

[17] *बहरा-बहार* के अतिरिक्त एक और नाम सुनने को मिला है— *बिरहा बहार*. ज़ाहिर है कि 'बिरहा' भोजपुरी प्रदेश के अहीर (यादव) समुदाय द्वारा गाई जाने वाली एक लोक-विधा है जिसका उद्‌भव विरह से हुआ है. विरह की स्थिति तब सम्भव होती है जब प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे से दूर हों. परंतु कालांतर में यह लोक-विधा बिरह के अलावा हर विषय-वस्तु को अपने भीतर समेटने लगी. जहाँ तक 'बहार' के संदर्भ की बात है, तो 'बहार' उर्दू का शब्द है जो वसंत ऋतु के लिए व्यवहृत होता है. मुगल काल में 'नौरोज़ा' नाम से नौ दिनों तक प्रति वर्ष नाचने-गाने व बजाने का एक आयोजन राज्य की ओर से प्रजा के लिए होता था. इस समय आम लोग अपना दुख-दर्द भूलकर आनंद मनाते थे. उनके जीवन में जैसे बहार आ जाती थी. कालांतर में यह बात तो रही नहीं, पर अवशेष-स्वरूप मेले आदि भीड़ के स्थानों में डफ़ली-खंजड़ी आदि पर गा-गाकर आम लोगों की समझ और ज़ुबान पर चढ़ने वाले गीतों की पुस्तकें 'बहार' विशेषण के साथ बेचने की परिपाटी चलती रही. एक रूप गीतों का दंगल करा कर सार्वजनिक आनंद मनाने का भी था. ठाकुर प्रसाद कचौड़ी गली, बनारस और लोकनाथ पुस्तकालय, कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों के साथ कई बार 'बहार' शब्द जुड़ा हुआ मिलेगा. खुद भिखारी ठाकुर की अनेक रचनाओं के साथ 'बहार' शब्द जुड़ा हुआ है.

[18] वीरेंद्रनारायण यादव व नागेंद्र प्रसाद सिंह (2005) (सम्पा.), *भिखारी ठाकुर रचनावली*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना : 312.

[19] वही.

[20] वही.

[21] वही.

1884 में पण्डित बेनीमाधव राम (काशीवासी) के एक लोक-गीत में पहली बार बाहर गये पति के लिए पत्नी द्वारा *बिदेसिया* शब्द का संबोधन मिलता है :
काहे मोरी सुध बिसराये रे बिदेसिया
तड़पत-तड़पत दिन-रैना गुजारे रे.....
कहे 'बेनीराम' लागी प्रेम कटारी से
उधोजी के ज्ञान कराये रे बिदेसिया।
... *बिदेसिया* का कथानक भी वियोग एवं पीड़ा से पैदा हुआ है। स्त्रियों का मौखिक लोकनाट्य *डोमकच* में न जाने कब प्रवसन संबंधी विषय-वस्तु ने प्रवेश किया और *बिदेसिया* लोकनाट्य शैली का रूप धारण कर लिया।



रोज़ी-रोटी कमाने परदेस चले गये पुरुषों की पीछे छूट गयी स्त्रियाँ.

'बिदेसिया' पानी लाने के बहाने रखैल को टरका कर चुपके अपने घर की राह पकड़ता है। पीछे से उसकी उढ़री पत्नी भी अपने दोनों बच्चों को लिए आ पहुँचती है। दोनों बच्चे अपने पिता से सवाल करते हैं कि उनकी दो माताएँ कैसे हुईं। लेकिन *गबरघिचोर* नाटक में कलकतिया मज़दूर यानी गलीज बहुत दिनों के बाद गबरघिचोर को भी कलकतिया मज़दूर बनाने के लिए घर लौटता है। *बिदेसिया* में देवर द्वारा प्यारी सुंदरी से अनैतिक संबंध बनाने की जो कोशिश की गयी थी, *गबरघिचोर* नाटक में वह कोशिश फलीभूत हो गयी है। उसी संबंध के परिणामस्वरूप गरबघिचोर का जन्म होता बताया गया है। लम्बे समय तक कलकतिया मज़दूरों के न लौटने के कारण ही इस तरह की परिस्थिति बनी। भिखारी ठाकुर का यह नाटक प्रवसन-संबंधों का खलनायकीय चित्रण करता है। गबरघिचोर पर माँ, धर्म-पिता या अवैध (असली) पिता में से किसका अधिकार होगा? प्रवसन से उत्पन्न इन सवालों से संस्कृति के इतिहास में केवल भिखारी ठाकुर ही टकराते हुए दिखाई पड़ते हैं, अन्यथा इन सवालों की ओर हिंदी साहित्य की नज़र भी नहीं गयी। भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों का जीवन ही भिखारी ठाकुर के इन दोनों नाटकों की कथानक है। चूँकि यह कथानक उनका अपना था, इसलिए उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति जितना छूती है उतनी दूसरों की नहीं।

भिखारी ठाकुर *बिदेसिया* की लोक-परम्परा से सूचित थे। एक साक्षात्कार में उन्होंने 1965 में कहा था कि *बिदेसिया* का नाम मैंने सुना था, *परदेशी की बात* आदि के आधार पर मैंने *बहरा-बहार* बनाया।[22] उनका यह *बहरा-बहार* ही पहली बार एक सम्पूर्ण नाट्य रचना के रूप में सामने आया। भिखारी ठाकुर ने इस नाटक की शैली में ही अपने शेष नाट्यों जैसे *बेटी बेचवा, गबरघिचोर, कलजुग प्रेम, गंगास्नान, विधवा विलाप* इत्यादि की प्रस्तुति की, जिसके कारण एक ख़ास नाट्य शैली यानी *बिदेसिया* नाट्य शैली प्रसिद्ध हई। *बिदेसिया* के लिए उन्होंने विभिन्न अँचलों की लोक-कलाओं से अपना अनुभव समृद्ध किया।

पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार से लेकर असम, बंगाल, सिंगापुर, नेपाल आदि देश-विदेशों में भिखारी ठाकुर के *बिदेसिया* की इतनी धूम मची कि उनके नाच दल के कई कलाकार उनसे अलग

[22] *बिदेसिया,* अंक-2, (राँची: 1987,) : 46; उसी साक्षात्कार का पुनर्प्रस्तुति देखें, *आजकल,* जुलाई 2006, नयी दिल्ली : 24.



फ़ीज़ी में लुवलुव कोठी में ... भगवना नाम का भंगी लगभग एक सौ पचास आदमियों के ऊपर था ... अपने मैनेजर का विश्वासपात्र सरदार था। ... वह एक आराम कुर्सी पर इतवार की छुट्टी के दिन पड़ा था और ब्राह्मण-क्षत्रिय जो इसके नीचे काम करते थे, चिलम भरकर उसकी परसी (छोटा हुक़्क़ा) पर रख देते थे। वह पानी भी पवित्र ब्राह्मण के हाथों ही भरवा कर पीता था। जहाँ कोई चीं-चपड़ करता तो उसी दिन उसका नाम निकाल लिख लेता और एक दिन की ग़ैरहाज़िरी का समान निकाल कर एक सप्ताह की सज़ा करा देता था। इस डर के मारे भगवना के क़ाबू में एक सौ पचास लोग रहते थे। यह सब कुली-प्रथा का प्रताप था, भगवना की शक्ति नहीं थी।

हो कर उन्हीं के नाटकों का मंचन करने लगे। कुछेक ने उस नाट्य शैली में नये तमाशे भी रचे। *बिदेसिया* नाट्य शैली में नाट्य रचना केवल प्रवसन तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि भोजपुरी समाज की ज्वलंत समस्याएँ भी इसकी विषय-वस्तु बनीं। खुद भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में प्रवास के अलावा अन्य समस्याओं का चयन किया है। *बिदेसिया* शैली की लोकप्रियता ने मुख्यधारा के नाटककारों को भी इस शैली में नाट्य रचना के लिए प्रभावित किया।

रेल : प्रवसन का प्रतीक

सर्वविदित है कि 1857 के बाद उत्तर भारत में अंग्रेज़ सरकार ने कच्चे माल के उत्पादक क्षेत्रों से माल ढोने के वास्ते रेलवे का जाल बिछाया था। 'पहले पहल ईस्ट-इण्डियन रेलवे 1857 में कलकते से इधर मिर्जापुर तक चली थी। यहाँ केवल भरवारी स्टेशन तक लाइन बनाने के लिए सामान लेकर रेल आया-जाया करती थी और उसके आगे सड़क बन रही थी, कि इतने में ग़दर हो जाने से सारा काम बंद हो गया। फिर जब शांति स्थापित हुई तो 3 मार्च, 1859 से प्रयाग से कानपुर तक रेल चलने लगी ...।'[23] उधर शाहाबाद में 'कोइलवर सोन पर विशाल सड़क पुल है, ... इसे बनाने में 1853 में काम लगाया गया और 1870 में दोहरी रेल लाइनों के लिए खोल दिया गया।'[24] ठीक उन्हीं दिनों यानी 1880 के मध्य उत्तर बिहार को बंगाल और नॉर्थ-वेस्टर्न रेलवे से जोड़ा गया, जो पूर्वी बंगाल राज्य रेलवे से जुड़ी हुई थी। 'इससे पूरे बंगाल में आम लोगों का आना-जाना आसानी से सम्भव हुआ। परिणामस्वरूप, बंगाल में प्रवासियों की गतिशीलता में वृद्धि हुई, प्रवासियों का रेल से लगाव हुआ और रेलवे का विस्तार भी'।[25] रेल लोक-संस्कृति से भी जुड़ी जिसमें उस की छवि विविध रूपों में है। उसकी छवि की यह विविधता देश एवं काल के अनुसार बनती गयी।

उन दिनों उत्तर भारत के भोजपुरी क्षेत्र से अधिकांशत: बंगाल की ओर ही प्रवसन हो रहा था। इस क्षेत्र से रेल से कलकत्ता जा रहे श्रमिकों के बारे में रामनरेश त्रिपाठी ने एक दिलचस्प घटना का ज़िक्र किया है जो रेल, श्रमिक एवं लोक-संस्कृति के अंतर्संबंधों को रेखांकित करती है : '1914 के आस पास की बात है, मैं जौनपुर से प्रयाग आ रहा था। एक स्टेशन पर कुछ स्त्रियाँ, जो सम्भवत: अहीर या चमार जाति की थीं, कुछ मर्दों को जो कलकत्ते जा रहे थे, पहुँचाने आयी थीं और रो रही थीं। ट्रेन स्त्रियों को रोती हुई छोड़ कर चल दी। कलकते जाने वाले मर्द संयोग से थर्ड क्लास के उसी डब्बे में आ बैठे थे, जिसमें मैं था। उनके साथ दो-तीन स्त्रियाँ भी थी, जो अपने परदेशी पतियों के साथ या पास कलकते जा रही थीं। उसकी एक ही कड़ी मुझे याद है। वह यह है — 'रेलिया सवति मोर पिया लइके भागे।' रेल की तुलना सौत

---

[23] शालिगराम श्रीवास्तव, *प्रयाग प्रदीप* (1937), हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद : 202.

[24] देवकुमार मिश्र (1983), *सोन के पानी का रंग,* सोनक्षेत्रीय विंध्य-गांगेय संस्कृति के जीवन की गाथा, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल : 294.

[25] आनंद ए. यांग (1989), 'पीज़ेंट ऑन द मूव : ए स्टडी ऑफ़ इंटरनल माग्रेशन इन इण्डिया', *जर्नल ऑफ़ द इंटरडिसिप्लिनरी हिस्ट्री,* खण्ड 10, अंक 1 : 535.

से होती हुई सुनकर मैं यकायक चौंक उठा। यह तो बिल्कुल नयी उपमा है।'[26] लोक-गीतों में रेल के शुरुआती दौर में सौतन की उपमा के साथ धीरे-धीरे उसकी आवागमन की दिशा पहचानी जाने लगती है :

पुरवा से रेलिया आवै, पछुआ से जहजिया,
पिया के लादी ले गयो ना।
रेलिया बैरिन मोरी सवतिया,
उहे जहजिया मोरी सवतिया
पिया के लादी ले गयो ना।[27]

इसी संवेदना को थोड़ा और तीव्र करने वाला गीत बेहद लोकप्रिय हुआ— 'रेलिया बैरिन पिया को लिए जाय रे।'[28] बाद में लोक-गीतों के रेल व जहाज़ उस तरह सौतन या 'बैरन' नहीं रह गये, बल्कि उनमें घर की ग़रीबी ऐसी दुश्मन है जिसकी वजह से उनके पतियों को परदेश जाने को मजबूर होना पड़ा :

रेलिया बैरी ना जहजिया बैरी, से पइसवा बैरी ना।
सइयाँ के लेके गइल बिदेसवा, से पइसवा बैरी ना।[29]

भोजपुरिया मज़दूर जिस रेलगाड़ी से आता-जाता है उसे एक बुझौवल (पहेली) में एक ऐसी दुल्हन का रूपक दिया गया है जो विवाहित होने के बावजूद और दूल्हों की खोज में आगे बढ़ती जाती है— 'एक सखी हम आवत देखा। श्याम घटा बदरी में रेखा / हाथ सिरोही मंगल गावै। व्याही है वर खोजत आवै।'[30] 'चले में रून-झुन, देखे में तक्ता / चालीस गोड़ पैंतालीस बच्चा।'[31] अर्थात् चलती है तो रुनझुन की आवाज़ होती है और देखने में तख़्ते के समान लगती है। उसके चालीस पैर तथा पैंतालीस यानी अनगिनत बच्चे हैं। इसी तरह एक अन्य पहेली में उसे राजा की ऐसी बेटी और हुमेले की ऐसी नातिन के रूप में देखा गया है, जो सौ-सौ कपड़ों की गाँती[32] बाँधती है, पूरे जंगल में हाथी की तरह दौड़ लगाती है। नि:संदेह राजा कोई और नहीं, बल्कि अंग्रेज़ सरकार है, जिसके हिंदुस्तान रूपी जंगल में हाथी रूपी रेल अपनी ताक़त, शौर्य-ऐश्वर्य दिखाती है और राज करती है— 'राजा के बेटी, हुमेले के नातिन, / सईं-सईं कपड़ा के बान्हेली गाती / सँउसे दंगल में दउरावेली हाथी।' इस पहेली की सही व्याख्या इस दूसरे पहेली में देखी जा सकती है— 'ऐसा फिरंगी पैसे का लोभी धुएँ को गाड़ी उड़ाये लिए जाए।'[33] फिर भी यह ऐसी है कि साथ-साथ आती-जाती तो है परंतु कुछ खाती-पीती नहीं है और यह पटरियों पर दया तनिक भी नहीं करती है, पर हाँ वह हमें बिना लिए नहीं जाती— 'साथै आवै साथै जाए। खाय न पियै न परै दिखाय। कुछ न रेल की करे सहाय। साथ लिए बिन रेल न जाए'[34] इस रेल की एक और ख़ासियत है— यह ऐसी कुत्ती है जो एक क्षण में यहाँ होती है तो दूसरे क्षण में बनारस में होती है— 'इहँवा के कुती, बनारस ढूकी'। यह रेलगाड़ी ऐसी है कि उसके नीचे आने पर वह पहचानती नहीं है बल्कि कुचल डालती है :

---

[26] राम नरेश त्रिपाठी (1951), *ग्राम साहित्य,* भाग-1, हिंदी मंदिर, प्रयाग : 17-18.

[27] तोताराम सनाढ्य (1994), *भूतलेन की कथा,* योगेंद्र यादव एवं बृज वी. लाल (सम्पा.), सरस्वती प्रकाशन, नयी दिल्ली, भूमिका से : 20.

[28] कमला सिंह, (1991), *पूर्वांचल के श्रम लोक-गीत,* परिमल प्रकाशन, परिमल प्रकाशन : 154.

[29] वही : 20.

[30] रामनरेश त्रिपाठी (1952), *ग्राम साहित्य,* भाग-3, आत्मा राम ऐंड संस, नयी दिल्ली : 288.

[31] श्रीविक्रमादित्य मिश्र (1981)(सम्पा.), *पहेली-कोश,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना : 59.

[32] जाड़े के मौसम में बच्चों को सर्दी से बचने के लिए गर्दन में बाँधा जाने वाला वस्त्र.

[33] मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' (1917), *रामलाल,* इण्डियन प्रेस, प्रयाग : 6.

[34] वही : 288.

कल में अगिआ लागय ना, कल में बेढ़ा उठे ना।
सइयां रेलिआ तर दबलय, कल में अगिआ लागय ना।[35]

भोजपुरी प्रदेश का प्रवासी श्रमिक रेल से अपने गंतव्य को चला गया और वहाँ से लौटने के लिए फिर उसी से उसे आना है। लेकिन अब तो इतनी भीड़ होने लगी है कि रेल का टिकट मिल भी जाता है तो गाड़ी में बैठने की जगह नहीं मिलती है। किसी तरह बोरे में कोच-कोच कर सामानों की तरह भर-भर कर रेलगाड़ियाँ आती-जाती हैं। इस बारे में बैदेहीशरण शर्मा की *चिट्‌ठीयाँव* (चिट्‌ठी) पियवा के पाती पनमतिया के नाँव[36] स्पष्ट करती है कि बींसवी सदी के आठवें दशक में कलकतिया श्रमिक लौटते वक़्त क्या-क्या सामान लाता था, रेल से उसकी यात्रा कैसी होती थी? यह स्पष्ट करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेल लोक-स्मृति में किस तरह श्रम-प्रवसन की प्रतीक बन जाती है।

लोक-संस्कृति में कलकत्ता और कलकत्ता में प्रवासी मज़दूर

भोजपुर एवं अवध पट्टी का एक बहुत ही लोकप्रिय गीत है— 'लागा झुलनिया का धाक्का, बलम कलकत्ता निकल गये'। राही मासूम रज़ा अपने उपन्यास *आधा गाँव* में लिखते हैं : 'कलकत्ता किसी शहर का नाम नहीं है। ग़ाज़ीपुर के बेटे-बेटियों के लिए यह भी विरह का एक नाम है। यह शब्द विरह की एक पूरी कहानी है, जिसमें न मालूम कितनी आँखों का काजल बह कर सूख चुका है। हर साल हज़ारों-हज़ार परदेश जाने वाले मेघदूत द्वारा हज़ारों-हज़ार संदेश भेजते हैं। शायद इसीलिए ग़ाज़ीपुर में टूट कर पानी बरसता है और बरसात में नयी पुरानी दीवारों, मस्जिदों और मंदिरों की छतों और स्कूलों की खिड़कियों में दरवाज़ों की दीवार में विरह के अँखुए फूट आते हैं, और जुदाई का दर्द जाग उठता है और गाने लगते हैं— 'बरसत में कोऊ घर से ना निकसे / तुमहिं अनूक बिदेस जवैया ...।' कलकत्ता, बम्बई, कानपुर और ढाका इस शहर की हदें हैं। दूर तक फैली हुई हदें ...यहाँ के रहने वाले यहाँ से जा कर भी यहीं के रहते हैं।'[37] कलकत्ता केवल ग़ाज़ीपुर के बहू-बेटियों के लिए नहीं, बल्कि समस्त भोजपुर व अवध पट्टी की बहू-बेटियों के लिए बिरह का नाम रहा है। 'पियवा गइलन कलकतवा ए सजनी / तूरि दिहलन पति पतनी के नातवा ए सजनी',[38] 'पिया कलकतिया लगालऽ आके छतिया' इत्यादि लोक-गीतों में बिरह के अलावे कलकत्ता के बारे में उनकी यह समझ भी उभरी है कि वहाँ का पानी 'खराब' है, वह 'मलेरिया' का शहर है, वह बदनाम शहर है,[39] वहाँ की औरतें जादू-टोना करने वाली हैं, मर्दों को तोता-भेंड़ा बना लेती हैं और बहुत सुंदर हैं इसलिए पानी भरवाती हैं। परंतु कलकत्ता केवल बिरह एवं बदनामी का नाम नहीं है बल्कि ख़ुशियों का भी नाम है। जैसे 'एजी पिअवा बसेला कलकतवे में, हारवा भरी भरी भेजेला लिफफवे में', 'कलकतवा से आवेला झूमत भारी', 'कलकतिया के मतारी, मनिआर्डर के आसरा' इत्यादि। ख़ुशी-ग़म, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद की ये आवाज़ें उनकी हैं जिन्हें कलकतिया घर पर छोड़ गया था। कलकत्ता से मज़दूरों के गहरे रिश्ते को भोजपुरी और हिंदी के कवि महेंद्र शास्त्री ने कुछ इस तरह दर्शाया है :

जिसे कहीं शरण नहीं, उसका भी स्वागत है,
इस महासमर में सबको है खपना।
काम है हज़ारों जो हज़ारों प्रकार के हैं,
देर तक किसी पड़ेगा नहीं अपना।...

---

[35] कमला सिंह (1991), *पूर्वांचल के श्रम-लोकगीत,* परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद : 31.
[36] भोजपुरी माटी, (1981) *पश्चिम बंग भोजपुरी परिषद्,* कलकत्ता, अंक-4.
[37] राही मासूम रज़ा (1966), *आधा गाँव ,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 10.
[38] वीरेंद्रनारायण यादव व नागेन्द्र प्रसाद सिंह (2005) (सम्पा.), *भिखारी ठाकुर रचनावली,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना : 27.
[39] डब्ल्यू.जी. आर्चर और संकटा प्रसाद (1943), *भोजपुरी ग्राम्य गीत,* पटना लॉ प्रेस, पटना : 171.

दिल्ली है हाक़िमों की, बम्बई भी मालिकों की,
कलकत्ता मज़दूरों का अपना।[40]

भोजपुरी प्रदेश से मौसमी प्रवास करने वाला मज़दूर जहाँ पहुँचता है, वहाँ की विशेषताओं पर तत्काल टिप्पणी करता है। उसकी टिप्पणियाँ मौखिक साक्ष्यों में मौजूद हैं। वह बम्बई पहुँचा और वहाँ के माहौल को देखा तो टिप्पणी की— 'बिन इंजन गाड़ी चले बिन गरजे बरसाति / बिना पुरुष नारी फिरे, ई बम्बई के हालि।'[41] यानी बम्बई में बिना इंजन की गाड़ी चलती है, बिना मौसम की बरसात होती है और बिना पुरुषों के यानी स्त्रियाँ अकेली घूमती हैं। प्रवास में जिन चीज़ों से उसका सामना होता है, उस पर उसकी प्रतिक्रिया को भोजपुरी की मौखिक परम्परा ने बड़े सलीक़े से दर्ज किया है। बंगाल पहुँचता है तो उसे 'छाजा, बाजा, केस, तीन बंगाला देस'[42] दिखाई पड़ता है और जब कलकत्ता पहुँचता है तब वहाँ उसे ऊँची-ऊँची इमारतें, साफ़-सुथरी, चिकनी सड़कें, ट्राम, बिजली-बत्ती की रोशनी, तालाबों में स्नान करती है औरतें, लाइन / बस्तियों में चहकती-फुदकती स्त्रियाँ दिखाई पड़ती हैं। वहाँ रहते हुए उसे धीरे-धीरे समझ में आने लगता है कि 'घोड़ा गाड़ी, नोना पानी अउर राँड़ के धाका / यह तीनों से बचल रहे त केलि करे कलकात्ता।'[43] यानी यदि कलकत्ता में मौज करना है तो घोड़ा-गाड़ी, खारा पानी और बदचलन औरतों से बचे रहना होगा। यह लोकोक्ति ट्राम, मोटर जैसी आधुनिक सवारियों के प्रचलन से पहले की है। 'देह पर ना लाता, चल कलकाता' लोकोक्ति दर्शाती है कि पैसे के अभाव में कलकत्ता नहीं पहुँचा जा सकता है। 'इमली के पाता, चल कलकाता, दले छू' कबड्डी गीत गाते हुए पहुँच भी गये तो पता चला कि वहाँ ज़िंदगी रेलगाड़ी की तरह तेज़ दौड़ रही है। इसी तरह वहाँ काम की तलाश में गये, पर आर्थिक संकट और शिक्षा के अभाव में नौकरी नहीं मिली तो सड़कों पर भूखे ही कई-कई दिन गुज़ारने पड़े, तब उसकी अभिव्यक्ति निकलकर आयी— 'जे गइल कलकत्ता, से खेह खाइल अलबत्ता'[44] यानी जो कलकत्ता गया, वह ख़ूब दुर्गति में फँसा। क्योंकि जूट फ़ैक्टरी वाले औद्योगिक क्षेत्रों में बस्तियाँ प्रवासी मज़दूरों से भरी रहती हैं। छोटे-छोटे झुग्गी-झोपड़ीनुमा सँकरे घर, खुली व बदबूदार नालियाँ इत्यादि मज़दूरों के लिए दुर्गति का कारण थीं।[45] वहाँ कलकतिया कई सालों से नौकरी कर रहा है। घर पैसा भेजने की फ़ुरसत तो है लेकिन उसे घर जाने के लिए मालिक छुट्टी नहीं दे रहा है। जब घर पर विपत्ति या संकट आया हो और जल्द आने के लिए तार भेजा गया हो, तभी वह घर लौट सकता है। नौकरी में बड़ी ग़ुलामी है। इसी ग़ुलामी को दर्शाता है, यह गीत- 'कवन संकट धनि परले त अइसन वियोग लिखे/ देहु न साहेब हमके तलबिया, त हमहूँ घर

[40] डी.एन. राय (2004), *लोककलाकार भिखारी ठाकुर : इयादन के खोह से*, माधव मुद्रणालय, छपरा : 12.

[41] अर्जन डी हैन (2003), 'कैलकटाज़ लेबर माइग्रेंट्स : एनकाउंटर्स विद मॉडर्निटी', कंट्रीब्यूशंस टू इण्डियन सोसियोलॅजी, खण्ड 37, अंक 189; अर्जन डी हान ने कलकत्ता के जूट उद्योग के प्रवासी मज़दूरों पर विविध परिप्रेक्ष्य से बेहतरीन शोध-अध्ययन किया है, लेकिन उनके अध्ययन में भोजपुरी की वाचिक परम्परा में प्रयुक्त होने वाले पदों की व्याख्या करते समय उनसे अनेक चूकें हुई हैं.

[42] इस लोकोक्ति से बंगाल के सामाजिक जीवन, रहन-सहन, खान-पान और गृह-स्थापत्य पर प्रकाश पड़ता है. यहाँ की स्त्रियों के केश बड़े लम्बे होते हैं. प्राकृतिक सुषमा से घिरे रहने के कारण बंगालियों की संगीत में विशेष रुचि है. बंगाल में बड़े-बड़े संगीतज्ञ हुए हैं. बंगाल के ग्रामों और नगरों में भवनों या गृहों के निर्माण के समय छज्जों की सुंदरता पर विशेष ध्यान दिया जाता है. बंगाल धान का क्षेत्र है इसलिए यहाँ के जनपदीय क्षेत्रों में छावनी प्रायः पुआल की होती है. इस छावनी में वर्षा से बचने के लिए ढालू ओलती बनायी जाती है. भोजपुरी लोक-गीतों में (चारि महीना राजा बरखा के दिनवा, दुअरे पर बंगला छवइह मोरे राजा, जब जइह बिदेसवा). जो 'बंगला' छवाने की बात कही गयी है, वह दरअसल बंगाल प्रदेश के ही घरों की बनावट की ओर संकेत करता है. बंगला उस एक मंजिले मकान को कहते हैं, जो चार त्रिभुजाकार छप्परों (चारों) को जोड़कर बनाया जाता है. यह आकार में क़रीब-क़रीब वर्गाकार होता है और खुला-खुला होता है. बरसात के दिनों में जब वर्षा नहीं होती है, और हवा भी नहीं चलती है, तब बड़ी उमस होती है. उस समय बंगला हवादार होता है.

[43] शशिशेखर तिवारी (1943), *भोजपुरी लोकोक्तियाँ*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.

[44] वही : 65.

[45] अर्जन डी हैन (1997) :919-949.



बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशक में लोक-साहित्य में अपनी माँगों को लेकर भारी संख्या में राजनीतिक आंदोलनों में भागीदारी करने वाला मज़दूर भले ही दिखाई न पड़ता हो, परंतु कारख़ानों में बड़े सबेरे से शाम दीया जले तक खटने वाला थका-माँदा और अवसाद-ग्रस्त मज़दूर भोजपुरी लोक-साहित्य में ज़रूर दिखाई पड़ता है जो अपनी दैहिक और मानसिक थकान मिटाने के लिए वेश्याओं के कोठों का रुख करता है या फिर नशाख़ोरी-जुआख़ोरी की ओर मुड़ता है। भिखारी ठाकुर के *बिदेसिया* और *कलयुग प्रेम* नाटकों में ऐसे ही मज़दूर उपस्थित हैं।

जइबो।'[46] नौकरी के लिए तथा नौकरी में व्यक्ति की जो दुर्दशा होती है उसका यथार्थ बयान भोजपुरी की लोककथा 'चुम-चटाकी' में हुआ है। 'नगर में धन के लिए पुरुष अपने सेठ की पाँच लात भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है। वह सोचता है कि यहाँ हमें कौन पहचानता है? भले ही पाँच लात पड़ेंगे, अपमान होगा, किंतु रुपये तो मिलेंगे।'[47] यह लोक-कथा प्रवास में श्रम करने की इस मानसिकता को बेहतर ढंग से समझाती है। जैसे भोजपुरी की एक कहावत है न कि 'हँ जी के नोकरी आ ना जी के घर'। मतलब नौकरी में रहो तो हाँ-हाँ करते रहो, 'न' बोलने पर घर बैठना पड़ेगा। इन गीतों से एक बात तो साफ़ हो जाती है कि इनमें नौकर और मालिक जैसे दो वर्ग हैं। मालिक शोषक है और मज़दूर शोषित। पर नौकर में वर्गीय चेतना नहीं है। श्रमिक और मालिक के बीच सीधा रिश्ता है। बीच में कोई बिचौलिया नहीं है। बेशक ये असंगठित क्षेत्र के मज़दूर हैं। अन्यथा संगठित क्षेत्र में बिचौलिए जैसे सरदारों के शोषण की भूमिका भी इन गीतों में मौजूद होती। यहाँ भी शोषण है, पर राहत इस बात की है कि मज़दूरी नगद मिलती है और गाँव के परम्परागत पेशे से कहीं अच्छी मिलती है। लेकिन यह भी सच है कि गाँव की अपेक्षा कारख़ाने में अधिक श्रम करना पड़ता है। चटकल (जूट मिल) में काम करते हुए पति कैसे डरपोक बन गया है, इस बिरहा गीत में देखिए :

भोंपू सूनि कलवा के पिया गोदवा में भागे, जे करे चटकलवा में काम।
ईंट के देवालि ऊपर टीन के छवैया, चमड़ा के रसिया समान।[48]

अर्थात् पत्नी कहती है कि कारख़ाने में भोंपू की आवाज़ सुनकर उसका पति डर कर उसकी गोद में भाग आता है। कारख़ानों में ईंटों की दीवार है, टीन की छाजन है और चमड़े की रस्सी लगी है। यह गीत चटकल की भीतरी व बाहरी बनावट को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। औद्योगिक शहर मज़दूर आदमी में इतना डरपोक और उबाऊ बना देता है कि कारख़ानों की भोंपू की आवाज़ सुनने मात्र से वह पत्नी के साथ संयोग के लिए भाग आता है। अख़्तर हुसैन रायपुरी की ख़बरनामा शैली में लिखित 'मज़दूर'[49] कहानी हावड़ा के जूट मिलों की सीटी कैसे मज़दूरों को डरपोक बना देती थी, का जीवंत चित्रण करती है।

बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में गाँव से निम्न वर्गीय किसानों का भोजपुरी क्षेत्र ही नहीं, वरन् पूरे हिंदुस्तान से शहर की ओर प्रवसन हो रहा था। यह प्रवसन थोड़ा-बहुत नहीं था। भोजपुरी क्षेत्र से कलकत्ता जैसे नगरों की ओर क़ाफ़िले-दर-क़ाफ़िले जा रहे थे। इस तरफ़ हिंदी साहित्यकारों की भी नज़र गयी है। मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' अपने उपन्यास *रामलाल* (1917) में और प्रेमचंद ने अपने उपन्यास *गोदान* (1936) में शहरों की ओर हो रहे पलायन को दर्ज किया है। तब तक इस क्षेत्र से कलकत्ता जाने वालों की संख्या चरम पर पहुँच चुकी थी। जिसका अंदाज़ा इस 'लाचारी' गीत से लगाया जा सकता है :

---

[46] श्रीधर मिश्र (1971), *भोजपुरी लोकसाहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन,* हिंदुस्तानी अकादमी, प्रयाग : 182.
[47] वही : 183.
[48] कृष्णदेव उपाध्याय (1966), *भोजपुरी लोक-गीत,* भाग-2, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग : 282.
[49] अख़्तर हुसैन रायपुरी (1933), *मज़दूर* , *विश्वमित्र,* मासिक हिंदी समाचारपत्र, अगस्त.

के हो जइहें हाजीपुर, के हो जइहें पटना। के हो जइहें कलकतवा नौकरिया ए बिरना।
ससुर जइहें हाजीपुर, भसूर जइहें पटना। पिया जइहें कलकातावा नौकरिया ऐ बिरना।[50]

इस गीत में परिवार के सभी मर्द सदस्य बाहर कमाने चले गये हैं। कलकत्ता में संगठित क्षेत्र के प्रवासी श्रमिकों पर दीपेश चक्रवर्ती, समिता सेन, अर्जन डी हैन सरीखे इतिहासकारों का शोध इस बारे में काफ़ी मददगार है। श्रमिकों के प्रवसन के संबंध में उनके द्वारा संकलित की गयी आधिकारिक सूचनाएँ हमारे काम की हैं। उनके हवाले से,1905 में बी. फोले नामक एक अंग्रेज़ अधिकारी लिखता है : 'बीस वर्ष पहले जूट मिलों में सारे मज़दूर बंगाली थे। अब उनका स्थान संयुक्त प्रांत और बिहार के हिंदुस्तानियों ने ले लिया। ... जिसका परिणाम यह हुआ कि आज अधिकांश मिलों के दो-तिहाई मज़दूर देहाती हैं।'[51] देहात से आये ये संगठित क्षेत्र के प्रवासी मज़दूर गाँव के किसान से कम शोषित नहीं थे। 'कलकत्तिया' मज़दूरों के शोषण के बारे में आर.एन. गिलग्रिस्ट, जो बंगाल के श्रम और सूचना अधिकारी थे, ने लिखा है— 'सरदार (बिचौलिया) मज़दूरों का किराया और सस्ते में खाने-पीने के लिए थोड़े पैसे दे देता है। ... वही उन्हें कुछ पैसे भी इसलिए पेशगी देता है कि हो सकता है कि उन्हें फ़ौरन काम न मिल पाए। वह उन्हें किसी क्वॉर्टर विशेष में रहने और ख़ास दुकान से चावल ख़रीदने की हिदायत करता। ... धीरे-धीरे उन्हें यह मालूम हो जाता है कि जिस मकान में वह अन्य छह मज़दूरों के साथ रहते हैं और जिसका वे सभी किराया देते हैं। वह सरदार का ही है और जिस दुकान से वह चावल ख़रीदता है उसका मालिक भी वही सरदार हैं।'[52] दरअसल सरदार की इसलिए चलती थी कि लोग उससे भयभीत रहते थे। सरदार का प्राधिकार इतना असरदार कैसे हो गया था? इसका सटीक उत्तर दीपेश चव्रवर्ती ने देने की कोशिश की है : 'संस्कार- इसके तहत सरदार भी आता है और मज़दूर भी। असल में यह पूर्व-पूँजीवादी संस्कार थे जिनमें धर्म, सम्प्रदाय, नातेदारी, भाषा और अन्य आदिकालीन विश्वासों पर विशेष बल दिया जाता था। इस संबंध में प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं मिलता है परंतु जो है वह इसकी ओर निश्चित रूप से संकेत करता है।'[53] प्रवासी मज़दूरों का शोषण भोजपुरी लोक-साहित्य में विमर्श के तौर पर भले न उठा हो परंतु भिखारी ठाकुर के 'बिदेसिया' नाटक में वह तथ्य अप्रत्यक्ष रूप में ज़रूर आ गया है। *बिदेसिया* नाटक का बिदेसी भी प्रवासी मज़दूर हैं, कलकत्ता में अपनी सहकर्मी से दूसरी अस्थायी शादी कर ली है और बच्चे भी हैं। वह अपने घर को भूल गया है। लेकिन बटोही के समझाए जाने पर वह घर लौटने की तैयारी करता है और घर लौटने के लिए जैसे ही वह अपनी 'बाड़ी' से निकलता है, बाड़ी वाला और साहूकार अपना मकान किराया और बक़ाया राशि लेने के लिए आ धमकते हैं। बिदेसी के पास रुपये पैसे न रहने पर वे उसे पीट देते हैं और कपड़े तक उतरवा लेते हैं। *बिदेसिया* नाटक का रंग-संकेत देखिए : 'बाड़ी वाला आ साहुकार आ के घर-भाड़ा आ कर्जा के तगादा करत बाड़े। भाड़ा आ कर्जा ना चुकवला ख़ातिर रक-झक तोर-मोर होता। बाड़ी वाला आ साहुकार बिदेसी के कपड़ा उतरवा लेत बाड़े। बिदेसी एक गमछी पेन्ह के घर जात बाड़े।'[54]

यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि बाड़ी वाला वही मकान मालिक है, वही सरदार है जो मज़दूरों से कमीशन के नाम पर रिश्वत लेकर उन्हें कारख़ानों आदि में काम दिलाता है, अपने ही मकान में रहने के लिए कमरा मुहैया कराता है और अपने मकान की दुकान से ही समान आदि

[50] श्रीधर मिश्र (1971) : 181.
[51] दीपेश चक्रवर्ती (1989), *रीथिंकिंग ऑफ़ वर्किंग क्लास हिस्ट्री, बंगाल-1890-1940,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 102; इसे भी देखें, शाहिद अमीन व ज्ञानेंद्र पाण्डेय (सम्पा.) (2002), *निम्नवर्गीय प्रसंग, भाग-1,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 77.
[52] वही : 81-82.
[53] वही : 85.
[54] वीरेंद्रनारायण यादव व नागेन्द्र प्रसाद सिंह (2005) : 50.

ख़रीदने के लिए हिदायत देता है। भिखारी ठाकुर से वह सरदारी व्यवस्था जाने अनजाने नज़रअंदाज़ नहीं हो पायी है। इससे उस व्यवस्था के शोषण की व्यापकता को समझा जा सकता है।

बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशक में लोक-साहित्य में अपनी माँगों को लेकर भारी संख्या में राजनीतिक आंदोलनों में भागीदारी करने वाला मज़दूर भले ही दिखाई न पड़ता हो, परंतु कारख़ानों में बड़े सबेरे से शाम दीया जले तक खटने वाला थका-माँदा और अवसाद-ग्रस्त मज़दूर भोजपुरी लोक-साहित्य में ज़रूर दिखाई पड़ता है जो अपनी दैहिक और मानसिक थकान मिटाने के लिए वेश्याओं के कोठों का रुख करता है या फिर नशाख़ोरी-जुआख़ोरी की ओर मुड़ता है। भिखारी ठाकुर के *बिदेसिया* और *कलयुग प्रेम* नाटकों में ऐसे ही मज़दूर उपस्थित हैं। *बिदेसिया* का बिदेसी दैहिक और मानसिक थकान मिटाने के क्रम में जुआख़ोरी का आदी हो गया है। वह 'बैठी के सलोनी पास, खेलत रहलन तास' यानी सलोनी के साथ बैठा रहता है और दिन-भर ताश खेलता रहता है। प्रवासी मज़दूरों की इन कुप्रवृतियों की ओर प्रेमचंद ने भी गोदान में संकेत किया है, 'सभी श्रमिकों की यही दशा थी, सभी ताड़ी या शराब में दैहिक थकान और मानसिक अवसाद को डुबाया करते।'[55] कथाकार संजीव ने भिखारी ठाकुर के बहाने उस दौर के उन मज़दूरों की तस्वीर कुछ इस तरह खींचा है, 'देसवाली आदमी जो भी मिला, परदेशी मिला, नयी-नयी ब्याहता पत्नी को छोड़कर पैसा कमाने के लिए आया हुआ जैसे-तैसे जीते हुए, नाच, तमाशा, बतकही में मन भुलाए हुए और बतकही भी क्या ... गाँव-जवार, पत्नी, माँ-बाप, बच्चों की यादें, सीने की धुकधुकी में हर पल बजता हुआ गाँव। लेकिन देह का भी अपना तक़ाज़ा है और जब बाबूलाल के लौण्डे या पतुरिया आग भड़का चुकी हो— सुलगते तन-मन में जलकर बर-बुता जाने की चाहत का एक कोना— रण्डी'।[56] शहर में प्रवासी मज़दूर इन लतों का शिकार कैसे हो जाता था? इसका उत्तर देना बहुत कठिन है। फिर भी सुविधा के लिए दो बातें कही जा सकती हैं। एक, कारख़ानों के अचानक बंद हो जाने से मज़दूरों का बेकार हो जाना, उनके इस बेरोज़गारी पर भोजपुरी का एक प्रसिद्ध गीत है— 'बरहमसिया तलवा लटकल, हाय रे चटकल।' और दूसरे, कारख़ानों के खुलने पर बहुपारी पद्धति से श्रम करने से दैहिक और मानसिक अवसाद और अपने घर-परिवार से दूरी उन्हें उन कुप्रवृत्तियों की ओर धकेलती थी।

प्रवास में भोजपुरिया श्रमिकों के प्रति स्थानीय लोगों द्वारा किया जाने वाला बरताव भी एक अहम मसला रहा है। वहाँ धरती-पुत्र संस्कृति के प्रभाव में प्रवासी श्रमिकों को हेय समझा गया। जैसे आज-कल 'बिहारी' शब्द का संबोधन एक गाली बना हुआ है वैसे ही बंगाल में उन दिनों इन्हें 'क्षातूखोर' और 'खोट्टा' संबोधन से गाली दी जाती थी। इन दोनों ही शब्दों में स्पष्ट रूप से घृणा का भाव है। हो सकता है कि 'अधिकांश भोजपुरी बंगाल तथा उसके मुख्य नगर कलकत्ता में दरबानी अथवा छोटा-मोटा काम करके ही जीविकोपार्जन करते हैं। इसी कारण इनके लिए 'खोट्टा' शब्द का प्रयोग किया गया होगा।'[57] इन्हीं व्यवहारों को लेकर बीसवीं सदी के चौथे दशक में बंगाली-बिहारी प्रश्न अख़बारों तक में बहस का मुद्दा बना हुआ था, ठीक उसी तरह जैसे पिछले दो-तीन साल पहले मुम्बई, दिल्ली, गोवा, असम, गुजरात जैसे प्रदेशों में क्षेत्रवाद की राजनीति अख़बारों की सुर्ख़ियाँ बनी।[58] ऐसे ही उन दिनों पटना से प्रकाशित हिंदी साप्ताहिक ने इस मामले पर सम्पादकीय में लिखा था : 'बड़े दुःख की

---

[55] प्रेमचंद (1936), *गोदान*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 2002 : 226.

[56] संजीव (2003), *सूत्रधार*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली : 42.

[57] उदयनारायण तिवारी (1984), *भोजपुरी भाषा और साहित्य*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण : 235.

[58] कमूल अब्बी (2013), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ लिंग्विस्टिक्स, कल्चरल रिकवरी ऐंड रीएसर्शन : भोजपुरी पॉपुलेशन ऐंड इट्स फ़िल्म्स', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड xlviii, अंक 33 : 54-62; इसे भी देखें, रत्नाकर त्रिपाठी (2012), म्यूज़िक मैनिया इन स्माल टाउन बिहार : इमरजेंस ऑफ़ वर्नाकुलर आइडेंटिटीज़, इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड xlvii, अंक 22 : 58-66.

बात है कि बिहार के कुछ बंगाली सपूतों और बंगाल के कतिपय अख़बारों और जननायकों ने बंगाली–बिहारी प्रश्न को बहुत उग्र रूप दे रखा है तथा वे बिहार के लोकप्रिय मंत्रिमण्डल पर बिना किसी आधार या औचित्य के कीचड़ उछालने का अनवरत प्रयास कर रहे हैं।'[59] उसी माह इसी समाचार–पत्र में एक और लेख छपा, जिसमें बंगाल में भोजपुरियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार का पता चलता है : 'बंगाल की पुलिस या कल–कारख़ानों में हज़ारों हिंदीभाषी भरे हुए हैं। इसमें बंगालियों की उदारता का लेशमात्र भी हाथ नहीं है। असल कारण है कि इस काम के लिए बंगाल में उम्मीदवार ही नहीं मिलते। बंगाल के हिंदुओं में प्रांतीयता की विषैली गैस वर्षों से इस तरह भर दी गयी है कि वहाँ बिना किसी क़ानून के बाहर वालों का प्रवेश रोका जा सकता है। क़ानून का सहारा लेना तो एक नाटक के समान है। उदाहरण के लिए बंगाल में कोई ऐसा क़ानून नहीं है, जिसमें बाहर वालों को व्यापार–वाणिज्य करने से रोका जाए। फिर भी जहाँ कहीं बंगालियों की आबादी है और यदि वहाँ कपड़े या मोदी की दुकान किसी बाहर वाले की है तो उस मुहल्ले के बंगाली आपस में चंदा इकट्ठा करके साइनबोर्ड पर लिख देते हैं 'बंगालीर दुकान'। ... बंगाल में बिहारियों का वही स्थान है, जो त्रिनिदाद, मेडागास्कर और मॉरीशस में प्रवासी भारतीयों का। वे तो उसी दिन से बंगाल में अपने को बाहर का समझते हैं; जिस दिन बंगाल के शब्दकोष में उनका नाम 'खोट्टा' दर्ज किया गया।'[60] यही कारण है कि बंगाली संस्कृति में भी भोजपुरिया श्रमिकों की उपस्थिति दयनीय थी। साहित्यकार राजेंद्र यादव का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'हाथ–पैर के काम के प्रति सामंती घृणा और पैसा–जीवी साहूकार के चंगुल में फँसा वह (बंगाली) अक्सर ही अपने साहित्य, नाटक या फ़िल्मों में बिहारी–उत्तर प्रदेशी मज़दूर को दरबान, रिक्शाचालक या घरेलू नौकर बनाकर या मारवाड़ी का ख़ून चूसने वाले सूदख़ोर के गँवार चीज़ की हास्यास्पदता देकर ही संतोष करता है। मगर ज़िंदगी में इन दोनों के बिना काम नहीं चलता है।'[61] दिलचस्प है कि भोजपुरी की मौखिक परम्परा इस मुद्दे पर अतीत से लेकर वर्तमान तक चुप रही है। इस चुप्पी की भड़ास लोक–गीतों में सम्भवतः परदेसियों के साथ आने वाली 'उढ़री' स्त्रियों के साथ किये जाने वाले पारिवारिक व सामाजिक बरताव के रूप में उभरता है। जिसकी चर्चा आगे मिलेगी।



जहाज़ की यात्रा कई स्थायी जीवन–शैलियों और पुरानी आदतों को तोड़ने में सफल हुई। प्राचीन भारतीय ग्रामीण प्रथाओं और रीतियों का अंत हुआ। ... समुद्री यात्राओं ने सामाजिक पदानुक्रम समतल करने में मदद की और सांस्कृतिक नवाचार के माध्यम से विध्वंस किया। परंतु विध्वंस की प्रक्रिया में सृजनशीलता के बीज भी छुपे थे। समान अतीत और समान दशा के अंशों से तथा समान भाग्य और समान लक्ष्यों से नये रिश्ते क़ायम हुए। इन सबमें 'जहाज़ी भाई' का रिश्ता भावनात्मक रूप से सर्वाधिक शक्तिशाली था। यह रिश्ता ख़ून के रिश्ते की तरह प्रगाढ़ और सुख प्रदान करने वाला था। इस रिश्ते को लोग अपने जीवन के संध्याकाल में भी सँजोये रहे। यह आपसी संबंध, अजनबी बाहरी दुनिया की अस्त–व्यस्तता और जटिलता के बावजूद एकता का सूचक बना रहा।

गिरमिटिया मज़दूर

भोली हमें देख अरकाटी भरमाया हो,
कलकत्ता पार जाओ पाँच साल रे 'बिदेसिया'।
डीपुआ में लाये पकरायी कागदुआ हो,
अँगुठवा लगाये दीना हाय रे 'बिदेसिया'।[62]

---

[59] *नवशक्ति* (1938), 8 अप्रैल, पटना, (माइक्रोफ़िल्म, एनएमएमएल).

[60] *नवशक्ति* (1938), 21 मई, (माइक्रोफ़िल्म, एनएमएमएल).

[61] राजेंद्र यादव, *अनपढ़ बनाये रखने की साजिश,* काँटे की बात–सीरीज़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 70.

[62] धीरा वर्मा (2000)), 'फ़ीज़ी के हिंदी लोक–गीत : गिरमिटियों के मौखिक दस्तावेज़', *गगनांचल*–त्रैमासिक पत्रिका, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली, अप्रैल–जून : 207.

यह बहुत लम्बा गीत है। जिसमें गिरमिटिया श्रमिकों की प्रवास प्रक्रिया, जहाज़ यात्रा, प्रवास स्थान, बाग़ानों में अनवरत दमघोंटू काम व बीमारियों का वर्णन हुआ है। 'बिदेसिया' का यह लोक-गीत फ़ीज़ी में न जाने कब गाया या लिखा गया होगा, लेकिन इस गीत में जो वर्ण्य है वह 1916 से पहले का है। यहाँ *बिदेसिया* का संबोधन प्रवासी मज़दूरों के लिए नहीं, बल्कि आततायी अंग्रेज़ी सरकार के लिए है। इस *बिदेसिया* गीत की व्याख्या के लिए मैं 24 अगस्त, 2009 को मलेशिया में फँसे हुए 54 प्रवासी मज़दूरों द्वारा लिखी गयी, उस चिट्ठी को प्रस्तुत करना चाहूँगा, जो मलेशिया में भारतीय राजदूत के नाम लिखी गयी थी–

फ़्लैट नं. 32
रूम नं. 58-4
जोहार मलेशिया

प्रबन्धक महोदय
भारतीय दूतावास (मलेशिया)

सेवा मे

सविनय निवेदन यह है कि हम सब प्रार्थी जिसका विवरण पिछे सनलग्न है सबका अनुरोध यह है कि हमको मुम्बई TQM offic दहिसर वहा से प्रकाशित वारन्ट से आधार पर बुलाकर मलेशिया स्थित पेट्रोनस कम्पनी के लिए न्यूक्ति करके एक आदमी से 60,000 रु० वसूल कर मुम्बई से चेन्नई लाया गया और हमारा फलाईट दिनांक 16/06/2009 रात 2:30 को फलाईट नं० IX 622 चेन्नई से कोलालमपुर लाया गया और मलेशिया समय 9:15 पर हम लोग पहुंचे यहा पर एयरपोर्ट से बाहर करके जोहर बहरू के लिए रवाना किया गया कोलालमपुर से जोहर बहरू के लिए समय करीब 7 घण्टे लगता है हम लोग को रास्ते मे नास्ता पानी भी नही मिला समय 5 बजे हम लोग जोहर बहरू पहुचे वहा हम सभी का पासपोर्ट छीना गया और एक रूम मे 12 से 15 आदमी भर दिया इसके बाद भी खाने की कोई व्यवस्था नही थी अगले दिन हमारा बोस एस. ए. नायर जो मैनेजर पेट्रोनस का बताता है। और सुबह पहुंच सारी बोलकर सभी मामले को सम्भाल लिया इसके बाद हम लोगो कों खर्चाज के नाम पर 50-50 रिंगिट दिया गया और बोला गया इसी पैसे से समान खरीद कर बनावो और खाओ कमाने के बाद सब काट लेंगे यह पत्र लिखे जाने तक 39 दिन बित चुका है न तो कोई काम है नही काम की कोई उम्मीद है इसीलिए हम सब प्रार्थी मुसीबत से उबरने के लिए अपने वतन हिन्दुस्तान आना चाहते है यह पत्र लिखने के बाद हमलोगो पर और भी मुसीबत आ सकती है इस बात को ध्यान मे रखते हुए करवाई करने की कृपा करे सब आपके आभारी रहेगे

हम सब प्रार्थी

—! जय हिन्द ! —

नि:संदेह पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से खाड़ी व अन्य देशों में एजेंटों के ज़रिये हिंदुस्तान, विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश एवं केरल प्रदेश, से सस्ते मज़दूर भेजे जा रहे हैं या फिर स्वेच्छा से जा रहे हैं। अच्छी तनख़्वाह पाने के प्रलोभन में ही इस चिट्ठी के आवेदक धोखाधड़ी के शिकार हुए थे। यह भी सत्य है कि खाड़ी व अन्य देशों में इन प्रवासी मज़दूरों के शोषण के तरीक़ों में तयशुदा वेतन या काम न दिया जाना, पासपोर्ट ज़ब्त कर लेना, बंधक बना लेना, ख़राब सेवा शर्तें, काम के बदले भोजन या स्वास्थ्य सुविधाएँ न मुहैया कराना, बेवजह मारपीट जैसी घटनाएँ शामिल हैं। नर्स या आया की नौकरी के लिए बुलाई गयी दक्षिण भारत की कई महिलाओं को वेश्यावृत्ति जैसे पेशे में धकेले जाने के मामले भी सामने आते हैं।[63] पर यह भी सत्य है कि खाड़ी देशों में क़ानून अत्यंत सख़्त है। इसलिए कोई व्यक्ति महिलाओं की ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता है। इस प्रदेश से अपना खेत-घर या ज़ेवर गिरवीं रखकर, क़र्ज़ लेकर, ज़मीन बेचकर खाड़ी देशों में कमाई करने वाले इन प्रवासी मज़दूरों के पैसों से गाँव में आलीशान मकान बन गये हैं। केरल में तो इनकी कमाई से सड़कें, अस्पताल, एवं स्कूल भी बने हैं।[64] चूँकि ये मज़दूर वहाँ बसते नहीं हैं। इसीलिए इनके सारे सपने अपने देश-गाँव से जुड़े रहते हैं और अपने देश-गाँव की मदद करते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये प्रवासी मज़दूर धोखाधड़ी के शिकार नहीं हुए हैं। निस्संदेह इनके साथ धोखाधड़ी होती है। पर उस हद तक नहीं, जिस हद तक शोषण व धोखाधड़ी का सिद्धांत प्रतिपादित करता है। ठीक इसी तरह औपनिवेशिक दौर में गिरमिट प्रथा के तहत गिरमिटिया मज़दूरों के संबंध में परस्पर विरोधी प्रमाणों का समूह-चित्र बनता है। गिरमिटियों के बारे में खेत-घर या जेवर गिरवीं रख कर या क़र्ज़ लेकर, ज़मीन बेचकर घर से निकलने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है।

उपनिवेशों में गिरमिटिया बनने से पहले बहुत लोग कलकतिया, असमिया या बम्बइया बन चुके थे। यानी 'उपनिवेशों में प्रवसन लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर किये गये आंतरिक स्थानांतरण का हिस्सा था।'[65] अंग्रेज़ी साम्राज्य से 1833 में दास-प्रथा होने के कारण मॉरीशस, फ़ीज़ी, गुयना, वेस्टइंडीज़ इत्यादि उपनिवेशों में गन्ने के खेतों में काम करने वाले मज़दूरों की कमी हो गयी। उसके एक साल बाद ह्यूज टिंकर के शब्दों में, 'ग़ुलामी का दूसरा रूप कुली-प्रथा'[66] की शुरुआत हुई जो पाँच साल के लिए थी। इस प्रथा के अंतर्गत काम करने वाले लोगों को कुली कहा गया। उन्हें गिरमिटिया भी कहा गया। गिरमिटिया 'एग्रीमेंट' का ही भोजपुरीकरण है। उपनिवेशों में भेजे गये ये लोग न केवल कलकत्ता, बम्बई, चेन्नई जैसे महानगरों के भर्ती-डिपो में नामांकित हुए थे, बल्कि उनमें से अधिकांश ने अपने प्रांतों में ही पंजीकरण कराया था और उनमें से कई लोगों ने जाने से मना कर दिया था। जाने से पहले उन लोगों को अपने गंतव्य के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था, यहाँ तक कि उन देशों का नाम भी नहीं।

इन गिरमिटिया मज़दूरों की प्रवास-प्रक्रिया यानी जहाज़-यात्रा के दौरान उनमें भारतीय रीति-रिवाज की जो स्थायी जीवन-शैलियाँ थीं, उनका भी अंत हो गया। गिरमिटिया इतिहासकार बृजलाल की टिप्पणी क़ाबिल-ए-ग़ौर है : 'जहाज़ की यात्रा कई स्थायी जीवन-शैलियों और पुरानी आदतों को तोड़ने में सफल हुई। प्राचीन भारतीय ग्रामीण प्रथाओं और रीतियों का अंत हुआ। ... समुद्री यात्राओं ने सामाजिक अनुक्रम को समतल करने में मदद की और सांस्कृतिक नवाचार का विध्वंस किया। परंतु

---

[63] मनोज कृष्ण (2006), 'खुदखुशी की खाड़ी', *जनसता,* 28 नवंबर; अतुल अनेजा (2007), 'ग्रोइंग एसर्शन ऑफ़ एशियन वर्कर्स इन द गल्फ़', *द हिंदू,* 22 मई.

[64] गौरीशंकर राजहंस (2007), 'अपने देश की मदद करते प्रवासी मज़दूर', *प्रभात ख़बर,* पटना, 1 मई.

[65] बृज वी. लाल (2005), *फ़ीज़ी यात्रा : आधी रात से आगे,* नैशनल बुक ट्रस्ट नयी दिल्ली : 6.

[66] ह्यूज टिंकर (1974), *अ न्यू सिस्टम ऑफ़ स्लैवरी : द एक्सपोर्ट ऑफ़ इण्डियन लेबर ओवरसीज़, 1830-1920,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विध्वंस की प्रक्रिया में सृजनशीलता के बीज भी छुपे थे। समान अतीत और समान दशा के अंशों से तथा समान भाग्य और समान लक्ष्यों से नये रिश्ते क़ायम हुए। इन सबमें 'जहाज़ी भाई' का रिश्ता भावनात्मक रूप से सर्वाधिक शक्तिशाली था। यह रिश्ता ख़ून के रिश्ते की तरह प्रगाढ़ और सुख प्रदान करने वाला था। इस रिश्ते को लोग अपने जीवन के संध्याकाल में भी सँजोये रहे। यह आपसी संबंध, अजनबी बाहरी दुनिया की अस्त-व्यस्तता और जटिलता के बावजूद एकता का सूचक बना रहा।'[67] ऐसी एकता का आलम्बन आंतरिक प्रवसन और अन्य प्रवसनों में नहीं था।

हिंदुस्तान से अपना सब कुछ छोड़ कर स्वर्णिम सुखदायी भविष्य की कामना लिए विदेशी भूमि यानी फ़ीज़ी, गुयना, मॉरीशस, त्रिनिदाद इत्यादि पर उतरे तो उन्हें वहाँ की परिस्थितियाँ एकदम विपरीत दिखाई पड़ीं। उन विपरीत परिस्थितियों की तुलना उन लोगों ने *रामचरितमानस* में 'राम-वनवास', 'सीता-वियोग' जैसे संस्कृति में मौजूद संकटों से किया। दिन भर गन्ने के खेतों में हाड़-तोड़ मेहनत करने के बाद उन्होंने अपने साथ ले गये *रामायण, गीता,* सूर, कबीर, मीरा और तुलसी के भजन गा कर अपने दु:खों और चिंताओं को कम किया और मनोरंजन भी किया। इस संदर्भ में 1893 में गिरमिटिया बनकर गये तोताराम सनाढ्य ने अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक 'भूतलेन की कथा'[68] में विस्तार से उन तथ्यों की सूचना दी है कि फ़ीज़ी के भारतवासी धार्मिक साहित्य से जब मानसिक खुराक की पूर्ति नहीं होती तो वे श्रृंगारिक साहित्य *सदावृज-सारंगा, तोता-मैना, इंदरसभा, लोरिकायन, सोरठी बृजभार* इत्यादि से मनोरंजन करते और मानसिक सम्बल प्राप्त करते। कुछ लोगों ने अपने दुखों को लोक-गीतों का रूप भी दिया, उदाहरण के लिए मॉरीशस का यह लोकप्रिय क्रियोल गीत देखा जा सकता है, 'मुसे मानस के मुलवा जर गइले राम।'[69] यानी महोदय मानस के कारख़ाने में आग लग जाने से गन्ना पेरने की मशीन रुक गयी, ज़ंजीर थम गयी, जेनेरेटर में पानी भर गया, बस एक चिमनी निशानी रह गयी। सरदार गाल पर हाथ रखकर बैठा रो रहा है और मज़दूरों से कह रहा है कि कारख़ानों के ऊपर अब पुआल मत डालना। इस गीत में एक ओर मज़दूर अपनी नौकरी खोने की वजह से दुखी हैं, तो दूसरी ओर कठोर मालिक की सम्पत्ति बर्बाद हो जाने से कुछ शांत भी हैं।

अधिकांश गिरमिटिया मज़दूर निर्धन ग्रामीण पृष्ठभूमि से आये भोल-भाले लोग थे जिन्हें धोखेबाज़ 'अरकाटियों' ने प्रवसन हेतु फँसा लिया था। बाग़ानों में ओवरसियरों और सरदारों द्वारा उनकी औरतों पर ज़ुल्म होते, उनके परिवार टूटकर इधर-उधर बिख़र जाते, उनकी 'इज़्ज़त' की धज्जियाँ उड़ा दी जातीं। बाग़ानी व्यवस्था ने गिरमिटिया मज़दूरों का 'मिमियाई का तेल'[70] (हाड़-तोड़ मेहनत) निकाल दिया था और कोलम्बरों के कोड़ों की मार नि:संदेह उनके लिए ग़ुलामी का दूसरा रूप थी। बीमारियों ने उनकी जीवन-लीला समाप्त की, गिरमिटियों के बहू-बेटियों की इज़्ज़त की धज्जियाँ उड़ गयीं। मानव-हिंसा और लोभ ने भी उनके जीवन को तहस-नहस कर दिया। दु:ख और दर्द गिरमिटिया का अभिन्न

---

[67] बृज वी. लाल (2005) : 2.

[68] तोताराम सनाढ्य (1994) : 30.

[69] सुचीता रामदीन (1989), *संस्कार मंजरी,* महात्मा गांधी संस्थान प्रकाशन, मॉरीशस : 388.

[70] औपनिवेशिक आधिकारिक रपटों में 'मिमिआई का तेल' का तात्पर्य हाड़ तोड़ मेहनत के संदर्भ में है. लेकिन उसके बारे में अफ़वाह थी, जिसके संबंध में ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक *बिहार पीज़ेंट लाइफ़* में लिखा है कि " Mimiyai ke tel, a kind of bitumen brought from Persia and elsewhere. It is is said to be extracted from the heads of coolies who emigrate to the colonies, by hanging them head downwards and roasting them over a slow fire. The treat of extracting it from the head of child is therefore an active deterrent." PP.409. ब्रिटिश द्वीपों को जहाज़ से भेजे जाने वाले मज़दूरों में जिस तरह की अफ़वाह थी, उस संदर्भ में 'सी ऑफ़ पॉपीज' के उपन्यासकार अमिताभ घोष ने भी यही माना है दिल्ली, पेंगुइन बुक्स इण्डिया लिमिटेड, 2010 : 201 बेशक अफ़वाहें मौखिक परम्परा की अंग होती हैं। अफ़वाहों की सामूहिक चेतना की निर्मिति के संबंध में विस्तार से जानने के लिए देखें, जॉन वानसिना (1985), ओरल ट्रेडिशन एज़ हिस्ट्री, द युनिवर्सिटी ऑफ़ द विनकोंसिन प्रेस, विनकोंसिन : 6-7.

हिस्सा था।[71] इतिहासकार बृजलाल फ़ीज़ी में गिरमिटिया की तीसरी पीढ़ी हैं। उनकी टिप्पणी गिरमिटिया इतिहास के दूसरे पक्ष को सामने लाती है, 'पर यह पूरी कहानी नहीं है। कठिनाइयाँ तो थीं परंतु यह भी सच है कि गिरमिटियाओं को अपने भाग्य-निर्धारण का अधिकार भी प्राप्त हो गया था।'[72] अनेक प्रवासियों के लिए गिरमिटिया-प्रथा अनेक कठिनाइयों के बावजूद भारत में उनकी दशा से बेहतर थी। यह बात मुख्य रूप से निम्न-वर्गों के लिए सही साबित हुई। इस संबंध में तोताराम सनाढ्य ने अपने संस्मरण में लिखा है कि हिंदुस्तान की जाति-व्यवस्था में किस तरह निम्न जाति वालों के साथ बुरे बरताव से तंग आकर भर्ती (कुली में) उपनिवेशों को चले जाते हैं। उन्होंने बताया है कि 'फ़ीज़ी में भगवना भंगी ने किस तरह ब्राह्मण-क्षत्रियों से बदला लिया' : 'फ़ीज़ी में लुवलुव कोठी में एक बार मैं गया। वहाँ पर भगवना नाम का भंगी लगभग एक सौ पचास आदमियों के ऊपर था। इस कोठी में सब शर्त-बँधे भारतवासी थे। भगवना अपने मैनेजर का विश्वासपात्र सरदार था। इसी के भरोसे कोठी की देख-रेख और शर्त-बँधे मज़दूरों से काम लेना साहब ने छोड़ दिया था। यह एक आराम कुर्सी पर इतवार की छुट्टी के दिन पड़ा था और ब्राह्मण-क्षत्रिय जो इसके नीचे काम करते थे, चिलम भरकर उसकी परसी (छोटा हुक़्क़ा) पर रख देते थे। वह पानी भी पवित्र ब्राह्मण के हाथों ही भरवा कर पीता था। जहाँ कोई चीं-चपड़ करता तो उसी दिन उसका नाम निकाल लिख लेता और एक दिन की ग़ैरहाज़िरी का समान निकाल कर एक सप्ताह की सज़ा करा देता था। इस डर के मारे भगवना के क़ाबू में एक सौ पचास लोग रहते थे। यह सब कुली-प्रथा का प्रताप था, भगवना की शक्ति नहीं थी। हर किसी से वह अपनी कथा इस प्रकार कहता था : मैं फ़ैज़ाबाद ज़िले का हूँ। मेरे गाँव में ठाकुर कोई दिन भी बिना जूता लगाए ख़ाली नहीं छोड़ते थे। दिन-भर उनके तगादे में घूमा करता था। शाम को चार मोटी-मोटी रोटी देते थे। गाँव में एक रामजी का मंदिर था, अपनी माँ को दर्शन कराने को ले गया, उस दिन रामनवमी थी। बाहर से दर्शन ठीक न मिला, मेरी माँ रोने लगी। माँ का रोना देखा न गया। उसको ले कर मंदिर के भीतर बाहरी पौरी (दीर्घा) से दर्शन कराया। माँ तो बड़ी प्रसन्न हुईं, पर मेरे ऊपर बड़ी मार पड़ी। उसी डर से कि कहीं सवेरे ठाकुर और न पिटवावें, मैं गाँव से भागा और फ़ैज़ाबाद में भर्ती होकर यहाँ आया हूँ। पाँच वर्ष तक तो चूँ नहीं कर सकते। समय सबका एक-सा नहीं जाता। कभी नाव गाड़ी पर तो कभी गाड़ी नाव पर। मेरे साथ जैसा हुआ, मुझे ख़ूब अभी तक याद है और ज़िंदगी-भर नहीं भूलूँगा।'[73]

एक और तथ्य का उल्लेख करना ग़ैर-ज़रूरी नहीं होगा। बात दरअसल अगस्त, 1933 की है। बाइस साल पहले गिरमिटिया बनकर फ़ीज़ी गये पति के पास जगरानी जा रही है। वह अपने पति के प्रवसन की कहानी सुनाती है : 'उस समय मैं 18-19 वर्ष की थी। एक दिन रात के समय भोजन करने के बाद मेरे पति (कलपू अहीर) ने अपने भाई से कहा 'मैं झाड़ा फिरने जा रहा हूँ। थोड़ी देर बाद लौटूँगा।'...(उसके बाद) अभी तक नहीं लौटे। ... पहले ख़याल हुआ कि महुआ बीनने गये होंगे। ... पीछे पता चला कि जमना प्रसाद ब्राह्मण के भाई जगन्नाथ के साथ कहीं लापता हो गये। ... चार वर्ष

---

[71] मॉरीशस के प्रसिद्ध कथाकार अभिमन्यु अनत का *लाल पसीना,* रामदेव धुरंधर का *पूछो इस माटी से,* फ़ीज़ीयन साहित्यकार सुब्रमनी का *डउकापुरान,* विवेकानंद शर्मा का *अनजान क्षितिज की ओर* सरीखे उपन्यास गिरमिटिया मज़दूरों के कठोर यातनामय जीवन के जीवंत दस्तावेज हैं. इसी तरह सूरीनाम की साहित्कार पुष्पिता की *सूरीनाम* पुस्तक भी गिरमिटियों के कारुणिक कहानी का दस्तावेज़ है. जय शंकर प्रसाद की 'नीरा' एवं प्रेमचंद की 'शूद्रा' कहानी भी उनके साथ हुए धोखाधड़ी एवं शोषण की दास्तान हैं. प्रेमचंद का उपन्यास *गोदान* भी इस ओर संकेत करता है. अभी हाल ही में (2007) पटना में हरिवंश तिवारी के निर्देशन में *भिनुसार* नामक भोजपुरी नाटक का मंचन हुआ, जिसमें गिरमिटियों के दुख-दर्द को नॉस्टेल्जिया के साथ देखा गया है. चीनी कहानीकार टेन चुन की कहानी 'जहाज़ पर' गिरमिटियाओं के समुद्री सफर का जीवंत चित्रण करती है. (*विशाल भारत* , फ़रवरी, 1938 हिंदी अनु. जुगुल किशोर शुक्ल).

[72] बृज वी. लाल (2005) : 4.

[73] तोताराम सनाढ्य (1994) : 85-86.



औपनिवेशिक दौर में गिरमिट प्रथा के तहत गिरमिटिया मज़दूरों के संबंध में परस्पर विरोधी प्रमाणों का समूह-चित्र बनता है। गिरमिटियों के बारे में खेत-घर या जेवर गिरवी रख कर या क़र्ज़ लेकर, ज़मीन बेचकर घर से निकलने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। उपनिवेशों में गिरमिटिया बनने से पहले बहुत लोग कलकतिया, असमिया या बम्बइया बन चुके थे। यानी 'उपनिवेशों में प्रवसन लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर किये गये आंतरिक स्थानांतरण का हिस्सा था।'

बीत गये तब एक दिन उनकी फ़ीज़ी से चिट्ठी आयी। ... अब उन्होंने मुझे अपने पास बुलाने का विचार किया है। ...(तब मैं) बेटा-बेटी को कहाँ फेंक देती। इसीलिए मैंने दूसरा विवाह नहीं किया।' जगरानी को फ़ीज़ी जाने में काफ़ी दिक़्क़त उठानी पड़ी। पासपोर्ट वह बस्ती (उ.प्र) से लेकर आयी थी। लेकिन उस पर बंगाल सरकार के प्राधिकरण के हस्ताक्षर कराने थे। कलकत्ते के पुलिसवालों ने उसे बेहद तंग किया था। अंततः फ़ीज़ी जा रहे अंबिका प्रसाद के साथ वह अपने पति के पास पहुँच जाती है। यह सोचते हुए कि वह शायद ही कभी अपने बेटे-बेटियों से मिल पाएगी।[74] भगवना और जगरानी के प्रवास की कहानी गिरमिटिया इतिहास के अनछुए पहलुओं को उजागर करती है। यह कड़वी सच्चाई थी कि निम्न जातियों को सदैव भारत के ग्रामीण समाज के बाह्य किनारों पर ही रखा जाता था— अछूतों, पट्टेदारों या भूमिविहीन कृषकों के रूप में। इस जन्म या अगले जन्म में भी उन्हें अपना जीवन सुधारने की कोई आशा नहीं थी। बाग़ानों में नित्य अनवरत काम का दबाव उनके लिए कोई नयी बात नहीं थी। उन उपनिवेशों में मनुष्य के रूप में उनकी व्यक्तिगत योग्यता को पहचान दी गयी और उनके प्रयासों को, आरोपण के आधार पर नहीं वरन् उनकी उपलब्धियों के आधार पर पुरस्कृत किया गया। बाग़ानी व्यवस्था में समतल करने की प्रवृत्ति थी जो ऐसे लोगों को अपने दमघोंटू अतीत से एक आकर्षक बदलाव दिया और उन्हें और उनके बच्चों के लिए एक ऐसे भविष्य का वायदा किया, जिसमें उनके पास कुछ कर दिखाने का एक मौक़ा मिला। अन्य लोगों ने, जो बाढ़, अकाल या लोभी भू-पतियों के शिकार बने थे, नये वातावरण की शांति और सुरक्षा का स्वागत किया। मौखिक साक्ष्य और अभिलेखागारों के दस्तावेज़, दोनों ही दर्शाते हैं कि कुछ निम्न वर्ग के श्रमिकों ने, मुख्य रूप से जो सरदार बन गये थे, अपने उच्च वर्ग के स्वदेशी भाइयों से, भारत में उनके द्वारा किये गये सामाजिक दमन का बदला लिया। अतः एक स्तर पर सभी गिरमिटिया मटर के दानों की तरह समान थे, बोझा ढोने को जानवर थे, पर वे सामाजिक वर्गों में बँटे हुए एक समूहमात्र भी थे, जिनके सदस्य, विभिन्न पृष्ठभूमियों, भिन्न-भिन्न अनुभवों और जीवन से अलग-अलग अपेक्षाएँ लिए हुए भी एक थे। अतः गिरमिट ग़ुलामी और मुक्ति दोनों का ही एक साथ परिचायक था। अमिताभ घोष ने गिरमिटिया मज़दूरों को अपने विश्वचर्चित उपन्यास *सी ऑफ़ पॉपीज़* में इसी रूप में देखा है। लोकसाहित्य में ग़ुलामी का सिद्धांत तो है लेकिन मुक्ति का सिद्धांत ग़ायब है। आज गिरमिटिया की तीसरी पीढ़ी अपने पूर्वजों के देश (हिंदुस्तान) की वास्तविकता से वाक़िफ़ होकर अपने साहित्य में उस मुक्ति को देखने लगी है।

देस में परदेस की बिअही[75] (स्त्री)

भोजपुरी की वाचिक परम्परा में किसान-मज़दूर का विवाहोपरांत गौना होते ही परदेश-गमन का चित्रण मिलता है। बेशक लोक-गाथाएँ अधिकांशतः पुरुषों द्वारा गायी जाती हैं, लेकिन अन्य कई लोक-

---

[74] मासिक हिंदी समाचारपत्र *विशाल भारत* के अगस्त, 1933 अंक में प्रवासी भारतीय स्तम्भ में 'बाइस वर्ष बाद' शीर्षक से प्रकाशित एक सच्ची घटना.

[75] ब्याह कर लायी स्त्री बिअही कहलाती है। इसे 'एहवात' भी कहते हैं,

विधाएँ स्त्रियों द्वारा ही गायी जाती हैं। लोक-गीतों में परदेश गमन के दौरान पति-पत्नी के बीच संवाद के बेहद जीवंत दृश्य उपस्थित हुए हैं। ज़रा निम्नलिखित गीत को देखिए :

रुन-झुन खोलऽ ना केवड़िया,
हम बिदेसवा जइबो ना।[76]

इस गीत में पति बिदेस जाना चाहता है। वह अपनी पत्नी से किवाड़ी (दरवाज़ा) खोलवा रहा है। पत्नी किवाड़ी खोलने से पहले पूछती हुई उत्तर देती है कि जब वह बिदेस जा रहा है तो उसे वह उसके नइहर (मायके) पहुँचा दे। पति पत्नी पर अब तक जितना ख़र्च कर चुका है उसकी क़ीमत माँगता है, पर जब वह अपने बाबा घर (मायके) से लाई हुई सामानों की याद दिलाती है तो वह निरुत्तर हो जाता है। फिर भी वह बिदेस जाने के वास्ते किवाड़ी खोलवा रहा है। लेकिन वह नहीं चाहती है कि पति कलकत्ता जाए। बस निहोरा ही कर सकती है :

कलकत्ता तू न जा राजा, हमार दिल कइसे लागी।
ओही कलकतवा में रण्डी बसतु है, मोजरा करै हैं दिन-राति।
हमार दिल कइसे लागी।[77]

पत्नी कलकत्ता जाने वाले पति से निहोरा करती है कि वह कलकत्ता न जाए और बताती है कि वहाँ रण्डी-वेश्याएँ रहती हैं, दिन-रात मुजरा करती हैं, वहाँ मलेरिया है, वहाँ तमोली हैं जो रात-दिन पान-बीड़ा लगाकर बेचते रहते हैं। इतना कुछ समझाने पर भी पति मानता कहाँ है?

अब जब उसका पति भी घर पर नहीं हैं तब वह अपने दुखों को किससे कहे। मायके से बिछुड़ने और पति का परदेश गमन उसे ससुराल में प्रवासी जीवन जीने का एहसास करा रहे हैं। मायके से बिछड़न न केवल गाँव से बिछड़न है, बल्कि उसका बहुत कुछ छूट गया है। उसके पास बस वहाँ की यादें हैं। अब वह स्मृति और इतिहास के तनाव में झूल रही है। मैके की सुखद स्मृतियाँ उसे क्लेश दे रही हैं : 'धन गइल धनबाद कमाये, कटनी बहुत कलेस, अंगनवा लागेला परदेश।' इस अकेलेपन में वह मायके की अतीत की स्मृतियों से मुक्त होती है तो पति की स्मृतियों में खो जाती है। और जब दोनों ही स्मृतियों से मुक्त होती हैं तो पुनः अकेलापन। ऐसे में वह अपने मायके से ही नहीं बल्कि प्रियतम से भी बात करना चाहती है। परंतु बात कैसे करेगी? उसके प्रियतम कहाँ होंगे? उसकी बातें उन तक कौन पहुँचाएगा? छप्पर पर कागा आया है। वही उसके दिल के हाल को उन तक पहुँचाएगा। आँगन में लगे पेड़ या छप्पर पर आने वाले ये पक्षी ही उसके अकेलेपन के साथी होते हैं। वह अपने परदेसी पति की ख़बर लाने के लिए कागा को दूध-भात खाने की लालच दे रही है :

ननदि के अंगना चनन घन गछिया हो रामा।
ताहि चढ़ि बोलेला कागवा सुलच्छन हो रामा
देबऊ रे कागवा, दुधा भात दोनिया हो रामा।
ख़बर ना ला दे बलम परदेसिया हो रामा।[78]

अर्थात् हे कागा, मेरे परदेशी बालम की ख़बर ला दोगे तो तुम्हें दूध-भात खिलाऊँगी। अरे यह कागा क्या सुना रहा है? प्रियतम ने दूसरी स्त्री रख ली है। वह स्त्री मुझसे भी सुंदर है। मेरा इतना अपमान? अकेलेपन और अपमान की इन्हीं स्थितियों से गुज़र रही है। लेकिन इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक के 'बिदेसिया' की पत्नी के लिए यह सब सुनना तो दूर की बात है, वह तो सीधे मैके पहुँचती है और अपनी भाभी से बोलती है-

---

[76] उपाध्याय (सम्पा.) (1990), *कृष्णदेव : हिंदी प्रदेश के लोक-गीत,* साहित्य भवन (प्रा.) लि., इलाहाबाद : 73-74.
[77] डब्ल्यू. एच. आर्चर और संकटा प्रसाद (1943), *भोजपुरी ग्रामगीत,* पटना लॉ प्रेस, पटना : 171.
[78] शाहिद अमीन (2005), *अ कंसाइज़ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ नॉर्थ इण्डियन पीज़ेंट लाइफ़,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली : 267.

केकरा खातिर करब भौजी, अबकी के परब, सैया अरब गइले ना।
सेज पर अब केकरा संगे लड़ब।...
ससुरा में तेल बिना सूखता आचार हो, उनका ले निमन बाटे नइहर के इयार हो।
हमरो मन बिगड़ी त जाके छूटा चरब, सैंया अरब गइले ना।[79]

मतलब यह कि अब वह सारी ज़िंदगी *बिदेसिया* की याद में ज़ाया नहीं करेगी, बल्कि मैके के अपने इयार (बॉयफ्रेंड) के साथ रहेगी। बेशक लोक-गीतों में भी स्त्री-विमर्श की हवा लग गयी है। बहरहाल, पहले वही 'बिदेसिया' की पत्नी माँ बन जाती है, फिर भी लाचार ही होती हैं। निम्नलिखित लोरी गीत एक माँ की लाचारी को अभिव्यक्त करता है :

सुत सुत बबुआ, कुई में के ढेबुआ।
बाप गइले नोकरी, मतारी अकसरूआ।
आजा आजी चनन के, पितिया सहोदर के।
मय खिलवना चानी के, बबुआ रे तु कथि के?
अनन चनन कसतुरी के।[80]

बच्चा सो नहीं रहा है। माँ उसे सुला रही है। अकेली वह क्या करे? बाप तो नौकरी करने गया है। दादा-दादी चंदन हो गये हैं। पितिया भी अब अपने कहाँ रहे? सारे खिलौने चाँदी के हैं पर बबुआ? बबुआ चंदन कस्तूरी का है। इस लोरी-गीत में स्त्री अपनी जीवनचर्या गा रही है। लेकिन उसके बच्चे थोड़ा और बड़े हो गये और संयुक्त परिवार से यदि वह अलग हो गयी तो उसे सास ननद के ताने नहीं मिलेंगे, बल्कि गोतिनियाँ ताना मारते हुए मिलेंगी :

छोटकी गोतिनिया मारे तनवा के बतिया,
पतिया रोई-रोई ना, लिखावे रजमतिया। पतिया ...[81]

रजमतिया को उसकी छोटी गोतिनी (देवरानी) ने ताना मारा है। वह अपने परदेशी पति को चिट्ठी लिखवा रही है। वह लिखवा रही है कि सौ-अस्सी रुपये, जो भी भेजे थे, मिल गये हैं। इतने से भी काम नहीं चलने वाला। अभी और ज़रूरत पड़ेगी। लड़कियाँ सयानी हो गयी हैं। किसी के पास झूला नहीं है, तो किसी के पास लूगा (सूती साड़ी) नहीं है। वह पूरे मुहल्ले भर की ख़बर लिखवा रही है। इससे मालूम होता है कि परदेशी पति अपने घर से कितना नाभिनालबद्ध है। उसकी सारी चिंताएँ व आशाएँ घर की ओर लगी रहती हैं। वहीं से वह निर्णय करता है। यही वह स्त्री है जिसकी ज़िम्मेदारी पति के प्रवसन करते ही बढ़ गयी है। अब वह न केवल घर-रसोई के लिए चिंतित रहती है, बल्कि उसे घर बाहर खेती-बाड़ी की ज़िम्मेदारी का प्रबंध करने लगी है।[82] लोक-गीतों में ऐसी स्त्रियों की इस भूमिका का जायज़ा कम हुआ है। ऐसी स्त्रियों का दर्द तुलसीराम की चर्चित आत्मकथा *मुर्दहिया* में मार्मिक ढंग से उभरा है : 'हे खेदन के बाबू हम कवन-कवन बतिया लिखायीं? बबुनी बहुत बिलखइले। ऊ रोई-रोई के मरि जाले। हमरे छतिया में दूध ना होला। दूहै जाईला त बकेनवाँ लात मारै ले। बंसुवा मजूरी में खाली सड़ल-सड़ल सावां दे ला। उप्पर से ओकर आंखि बड़ी शैतान हौ। संझिया क रहरिया में गंवुवा क मेहरिया सब मैदान जा लीं, त ऊ चोरबती बारै ला। रकतपेनवा हमहूँ के गिद्ध नाई तरेरैला। चोटवा से पेटवा हरदम ख़राब रहेला। हम का खियाई, का खाईं, कुछ समझ में ना आवेला।

---

[79] http://www.youtube.com/watch?v=Mxg_VwkhQqw.

[80] http:/www.google.com/search?/vanarsi vaibhav- Bhojpuri lokgeet.

[81] http:/www.google.com/search?/vanarsi vaibhav- Bhojpuri lokgeet. *केकरा से कहाँ मिले जाला,* कैसेट, गायिका शारदा सिन्हा (1986), टी सीरीज़ सुपर कैसेट इंडस्ट्रीज लि., नोएडा, साइड ए, पहला गीत; मिथिलेश्वर (2009), *भोजपुरी लोककथा,* नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली : 10. इस पुस्तक में पति द्वारा दस पाँच रुपये भेजे जाने का ज़िक्र है.

[82] के.एम. सिंह, आर.के.पी. सिंह और अंजनी कुमार (2013), *मेल वर्कर्स माइग्रेशन ऐंड वुमॅन इम्पावरमेंट : द केस ऑफ़ बिहार, इण्डिया,* एमपीआरए पेपर 49385, युनिवर्सिटी लाइब्रेरी ऑफ़ म्यूनिख़, जर्मनी, 30 अगस्त, 2013 को संशोधित.

बबुनी के दुधवा कहाँ से लिआई? जब ऊ रोवैले, त कब्बो-कब्बो हम वोके लेइ के बहरवां जाइके बोली ला कि देख तोर बाबू आवत हउवैं, त ऊ थोरी देर चुप हो जाले। तूँ कइसे हउवैं? सुनी ला कि कोयलरी में आग लाग जालें। ई काम छोड़ि दा। गंवुवैं में मजूरी कइ लेहल जाई। सतुवै से जिनगी चल जाई। येहर बड़ी मुश्किल में बीतत हौ। अकेलवैं जियरा ना लागेला, उपरा से खइले क बड़ा टोटा हौ। हो सके त बीस रोपेया भेजि दा। जब अइहा त तुलसी बाबू के एक जिस्ता कागद ज़रूर लेहले अइहा, ई है सब कर चिठिया लिखै लं। ई बड़ा तेज़ हउवैं। अउर का लिखाई हम? थोर लिखना, ढेर समझना।' इस चिट्ठी में खेदन किसुनी भौजी के चार साल के बेटे थे तथा बबुनी डेढ़ साल की बेटी थी। बंसुवा यानी बंसू पाण्डे ज़मींदार थे जिनके यहाँ किसुनी मजूरी करती थी। चोरबती टार्च को कहते थे। बकेनवां यानी बकेना भैंस थी, जो दुहते समय छटक जाती थी, क्योंकि उसका दूध ख़त्म हो चुका था। ऐसे ही मिलते-जुलते अनेक प्रकरण उस अकाल के दौरान् मुझसे लिखाए गये। मैं स्वयं से सारी 'बैरन' चिट्ठियाँ उसी अपने स्कूल पर स्थित एक पोस्ट बॉक्स में डाल देता था।'[83]

मध्यकालीन लोक-गीतों में परदेशी बहू का मन बहलाने के लिए तोता एवं देवर जैसे पदों का प्रयोग देखने को मिलता है। यह मन बहलाने वाला कुछ दिनों बाद उसके ऊपर बुरी निगाह रखने लगता है। ऐसा बहुत कम देखने-सुनने को मिला है जिसमें देवर एवं भाभी के रिश्तों की अभिव्यक्ति सीता-लक्ष्मण के पवित्र रिश्तों के रूप में हुई है। अधिकांश लोक-गीतों में देवर-भाभी को छेड़-छाड़ करते हुए दिखाई पड़ता है। इस प्रसंग में लोक-साहित्य ने परम्परागत आदर्श स्थापित किया है। एकनिष्ठ प्रेम के आदर्श से भोजपुरी लोक-साहित्य बहुत समृद्ध है। सीता, सावित्री, पार्वती, हेवंती, सती बिहुला, लचिया रानी, देवसुंदरी, लोरिकायन की मंजरी, शोभनायक बंजारा की जसुमतिया, भगवती जैसे मिथक और लोक-गाथाओं में चित्रित स्त्री चरित्रों के माध्यम से भोजपुरी लोक-साहित्य ने अपने समाज को ख़ूब उपदेश दिया है। पति परदेश चला गया है। वह बारह वर्ष तक वापस नहीं आया है। पत्नी उसकी प्रतिक्षा में सतीत्व को बचाये रखती है। दुनियाबाई के तमाशे की प्यारी सुंदरी और भिखारी ठाकुर के 'बिदेसिया' की प्यारी सुंदरी भी वर्षों से पति की प्रतीक्षा कर रही हैं। पड़ोसी देवर उससे अनुचित संबंध बनाना चाहता है। पर वह उसके वासनापरक प्रेम प्रस्ताव को ठुकरा कर बिदेसी के आगमन तक अपने सतीत्व की महत्ता को क़ायम रखती है। लोक-साहित्य साक्षी है कि इधर पत्नी अपने आत्मसम्मान को पति की इज़्ज़त समझ कर अपने सतीत्व की रक्षा करती रही, पर प्रवास में पति दूसरी स्त्री भी रखता है और घर लौटकर पत्नी के सत की परीक्षा भी लेता है। मिथकीय चरित्र शिव व्यापार करके बारह वर्षों के पश्चात् घर लौटे हैं। गौरा से कुशल क्षेम पूछने की बजाय उनकी यौन-पवित्रता पर संदेह करते हुए नाना सवालों से परीक्षा ले रहे हैं :

लवंगिया लदनिया हो महादेव, तिरसुल दीहलन उठगाई।
बारह बरिस पर अइलन महादेव। गउरा से माँगेलन विचार।...
फाटू हूँ धरती समाई बलु जइबो। अइसन पुरूख मुँह ना देखबो।[84]

यह शिव गौरा गीत है। स्त्रियाँ इसे विवाहोत्सव के अवसर पर मंगलगान के रूप में गाती हैं। यह संस्कार गीत साबित करता है कि पत्नी की यौन शुचिता के प्रति पति का संदेह एवं उसके निराकरण के लिए परीक्षा लेने की एक लम्बी परम्परा रही है। यह परम्परा स्त्रियों की इस मानसिकता को मज़बूत

---

[83] तुलसी राम (2010), *मुर्दहिया,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 90.

[84] हंसकुमार तिवारी (1977), *भोजपुरी संस्कार गीत,* बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना; सुचीता रामदीन (1989), *संस्कार मंजरी,* महात्मा गांधी संस्थान, मॉरीशस : 165; उदयनारायण गंगु (2002), *मॉरीशस का भोजपुरी लोकसाहित्य एवं भारतीय संस्कृति,* महात्मा गांधी संस्थान, मॉरीशिस, मोका : 284-85; सुरेश गौतम (2010), *भारतीय लोकसाहित्य कोश,* भाग-6, संजय प्रकाशन, नयी दिल्ली : 2761; श्रीधर मिश्र (1971), *भोजपुरी लोकसाहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन,* हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद : 276.



मज़दूर समुदाय अपने घर या क्षेत्र की महिलाओं द्वारा काम किये जाने को अपमान क्यों समझता था? जाहिर है कि उस मज़दूर समुदाय द्वारा बेशक पुरुष प्रधान होने के कारण अपनी स्त्रियों को 'इज़्ज़त' की वस्तु समझना-प्रवासी श्रमिकों की सामुदायिक सम्मान पर व्यक्तिगत सम्मानबोध भी थी और मिलों में काम करने वाली महिलाओं को वेश्यावृत्ति का प्रतीक मान लिया गया था। जैसा कि तत्कालीन आधिकारिक रपटों में इस संदर्भ में सूचनाएँ एकत्रित की गयी हैं। रिपोर्ट में 'जूट मिल के मैनेजर ने कहा था-'मिल में काम करने वाली अधिकतर औरतें काम के साथ वेश्यावृत्ति भी करती हैं।' ये सारी मज़दूर औरतें प्रवासी थीं।

करती है कि शिव जैसे भगवान ने अपनी गौरा पर संदेह किया तो हमारी क्या बिसात? इसलिए हमें पति के संदेह को अपनी निर्मलता से दूर करना चाहिए। स्त्री की यौन शुचिता की परीक्षा उसके लिए वैध स्वीकृति बन गयी है। लेकिन क्या निम्नजातीय समाज में यौन शुचिता के प्रति आग्रह इसी रूप एवं इतनी ही मात्रा में रही है? लोक-गीतों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि उनके यहाँ यौन पवित्रता का आग्रह उस रूप में नहीं है। वजह, पर्दा प्रथा का आग्रह कम होना और घर और खेतों में श्रम करना और वह जिस समाज से रिश्ता रखती है, उस समाज में उच्चवर्णीय स्त्रियों की अपेक्षा उसके अधिकार अधिक हैं। इसीलिए शोषित होने पर वह जल्द ही प्रतिकार कर उठती है। लाचारी की स्थिति में उसकी प्रतिकार की भाषा तथाकथित फूहड़ हो जाती है-

फूल एक फूलि गइले; फूलिववा दावानवाँ।
पिया मोर गइले बिदेसवा; कइके रे गवनवाँ।
जाँघ तोर थाके रे पियवा; बँहिया लागो घुनवाँ।
जाहि हाथे डलले रे मुअना; सिर में सेनुरवा।[85]

यह गौड़ जाति द्वारा गाया जाने वाला गीत है। ज़ाहिर है कि गौड़ हिंदू समाज में निम्न जाति मानी जाती है। इस गीत में गौड़ जाति की स्त्री कहती है कि दौना के फूल-फूल (खिले) रहे हैं। मेरा पति गौना करा कर परदेस चला गया। वियोग की व्यथा देने के कारण वह पति को शाप देती है : ओ 'बिदेसिया' परदेस जाते समय तुम्हारा पैर थक जाए और तुम्हारी बाँहों में घुन लग जाए, जिन हाथों से तुमने मेरी माँग में सिंदूर लगाया। अब मैं अपनी शंख की चूड़ियों को फोड़ दूँगी, सिंदूर मिटा दूँगी; अपने कोमल प्राणों को नष्ट कर दूँगी। इस गीत में पत्नी परदेश जाने वाले अपने पति को जिन शब्दों में गाली एवं शाप दे रही है उनसे भोजपुरी समाज का निम्नवर्गीय एवं निम्नजातीय गौड़ समाज हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। भोजपुरी क्षेत्र में एक निम्नजातीय नारी ही अपने पति को जली-कटी भाषा में बोल सकती है क्योंकि आर्थिक संसाधनों के उत्पादन में उसकी बराबर की भूमिका है।

लोक-साहित्य में प्रवासी पतियों के घर लौटने पर स्त्रियों के साथ यौन शुचिता का सवाल अक्सर उठता है। स्त्री उत्पीड़न की आवाज़ स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले संस्कार गीतों, श्रम गीतों यथा-जँतसारी, रोपनी, सोहनी, निरवाही करते समय गाये जाने वाले गीतों में सुलगती है। इन गीतों में अधिकांशत: उत्पीड़न की आह तो है मगर प्रतिरोध का स्वर नहीं।

देस-परदेस में उढ़री स्त्री

भोजपुरी की एक बहुत लोकप्रिय लोकोक्ति है कि 'उढ़री औरत, टेम्पोरेरी नोकरी आ टटिहर घर के ओर छोर ना ह।' मतलब उढ़री औरत, अस्थायी नौकरी और झुग्गी झोपड़ीनुमा घर का कोई भरोसा

---

[85] जॉर्ज ए. ग्रियर्सन (1884), 'सम बिहारी फॉक-सांग्ज़', *जर्नल ऑफ़ रॉयल एसियाटिक सोसाइटी,* न्यू सीरीज़, खण्ड 16, अंक 2 : 196-216; कृष्णदेव उपाध्याय (1966), *भोजपुरी लोक-गीत,* द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण, 1966 : 306.

नहीं होता है। भोजपुरी पट्टी के लोककवि घाघ ने भी उढ़री औरतों से सावधान रहने की शिक्षा दी है। उन्होंने कहा है कि :

मुये चाम-से-चाम कटावै, भुइँ सँकरी माँ सोवै।
कहै घाघ ये तीनों भकुवा, उढ़र पर रोवै।[86]

अर्थात् जो तंग जूता पहनता है, और ज़मीन पर भी तंग जगह में सोता है और अपना घर छोड़ कर परायी स्त्री को लेकर भाग जाता है और फिर रोता है। घाघ कहते हैं, ये तीनों मूर्ख हैं।

उढ़री औरतों के साथ किये जाने वाले लोक-व्यवहार पर बात करने से पहले 'उढ़री' शब्द के अर्थ को जान लें। इस संबंध में इतिहासकार शाहिद अमीन का मानना है, 'वह औरत जो परपुरुष के साथ भाग जाती है। हाँलाकि उसके साथ रहने वाली वह औरत उसकी पत्नी नहीं होती है।'[87] दरअसल 'उढ़री' शब्द उढ़ार से बना है जिसका अर्थ होता है भगा ले जाना। उढ़री नारी को 'अरधी' भी कहा जाता है लेकिन दोनों में अंतर यह है कि 'उढ़री' का विवाह सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त नहीं होता है जबकि 'अरधी' का विवाह सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त होता है। भोजपुरी लोक-साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि न केवल परपुरुष के साथ भाग जाने वाली बल्कि भगाकर लाई जाने वाली स्त्री को भी उढ़री कहा गया है। जैसे कि लोकगाथा *लोरिकायन* में नायक लोरिक चनवा को भगा (चनवा का उढ़ार) ले जाता है या फिर *जालिम सिंह* नाटक में जालिम सिंह डोम की लड़की को भगा ले जाता है। इनके अतिरिक्त बहुत से गीतों में स्त्रियों को भगा लाया गया है। वैसे भी मध्यकालीन या फिर औपनिवेशिक भारतीय समाज व संस्कृति में स्त्रियों को भगा ले जाने की एक लम्बी परम्परा रही है। ग्रियर्सन ने अपने एक लेख में एक बिरहा गीत का उल्लेख किया है जिसमें एक स्त्री (प्रिया) को पुरुष (प्रिय) द्वारा भगाये जाने को 'उढ़रले' पद का प्रयोग हुआ है–

हाथवा में डारले रम-रेखवा / गरवा में डारेले उदराछ
ललकी पगरिया बान्ह के यरवा / जानी के उढ़रले बा जात।[88]

अर्थात् राम रेखा नाम की प्रिया ने अपने हाथों में चूड़िया पहन रखी हैं और गर्दन में उसने रुद्राक्ष पहन रखी है। लाल पगड़ी बाँधे उसका यार अपनी जानी (प्रिया) को भगा लिए जा रहा है। ग़ौरतलब है कि स्त्री का भागकर जाने में सारा दोष (चारित्रिक दोष) उसी स्त्री पर आता है। दरअसल उढ़री वह औरत है जो अकेली या अपने बच्चों समेत परपुरुष के साथ रहती है। हालाँकि वह उस पुरुष की विवाहित औरत नहीं होती है। वह या तो भागकर आयी हुई होती है या फिर वह उस पुरुष के द्वारा भगाकर लायी हुई होती हैं जिसके साथ वह रहती है।

भोजपुरी प्रदेश से जिन महिलाओं का पलायन हुआ, उनमें अधिकतर विधवाएँ, बहिलाएँ (वंध्या औरतें), परित्यक्ताएँ, अत्यंत निर्धन यानी हर तरह से शोषित-दलित महिलाएँ थीं। उन्होंने स्वेच्छा से कभी भी पलायन नहीं किया। यहाँ पण्डित तोता राम सनाढ्य का एक संस्मरण (1914) उल्लेखनीय है। एक उन्नीस वर्षीय विधवा को उसकी सास एवं जेठानी मारते-पीटते थे। जेठ ने उसके साथ अवैध संबंध बनाया। उसको गर्भ रह गया। गर्भ गिराने को कहा गया लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इसलिए उसे मारा-पीटा एवं दागा गया और घर से निकाल दिया गया और धमकाया गया कि अगर वह लौटी

---

[86] राम नरेश त्रिपाठी (सम्पा.) (1931), घाघ और भड्डरी, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद : 31; रामनरेश त्रिपाठी (1952), *ग्रामसाहित्य,* भाग-3, ,दिल्ली, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली : 207. विष्णुकांत पाठक (सम्पा.) (2009), 'घाघ भड्डरी की कहावतें', प्रकाश पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, अनुमानित प्रकाशन : 53 .

[87] शाहिद अमीन (2005) के अनुसार : To urari, A women who has been enticed away; a women not his wife who lives with a man : 47-48.

[88] जॉर्ज ए. ग्रियर्सन (1884), 'सम भोजपुरी फॉक-सांग्ज़', *जर्नल ऑफ़ रॉयल एसियाटिक सोसाइटी,* खण्ड 18 : 206-267;. ग्रिर्यसन ने इस बिरहा का भावार्थ इस प्रकार लिखा है : Ram-Rekha has put bangles on his arm, and on his neck an Ud'rachh. The lover has tied on a red turban, and is carrying off his sweetheart : 231.

तो उसे जान से मार डाला जाएगा। तोताराम बताते हैं कि 'ऐसे समाचार मेरे पास बहुत हैं, ... इलाहाबाद, कानपुर, आगरा, फ़ैज़ाबाद, अयोध्या, बनारस, मथुरा आदि स्थानों में आसपास के गाँवों की कितनी ही विधवाएँ भटकती मिलेंगी। क्या झोपड़ा, क्या कँगूरेदार महल प्रति सैकड़ा चालीस घरों से विधवाओं की आहों से गूँजती आवाज सुनाई देगी।'[89] अतः अकेली महिलाओं के श्रम पलायन के संदर्भ में अर्थशास्त्र की 'पुल ऐंड पुश थ्योरी' में से 'पुश थ्योरी' ही लागू होती है। मतलब, ऐसी महिलाओं ने मजबूरी में ही पलायन किया। परंतु जो महिलाएँ अपने पतियों के साथ गयी, उनके संबंध में ऐसी टिप्पणी नहीं की जा सकती। औपनिवेशिक दौर में भोजपुरी क्षेत्र से महिलाओं का पलायन भी आमतौर पर कलकत्ता, असम जैसे नगरों में ही होता था। इसका मतलब यह नहीं है कि उपनिवेश से पहले ये स्त्रियाँ पलायन नहीं करती थी। भोजपुरी की मध्यकालीन मौखिक आख्यानों से पता चलता है कि मध्यकाल में भी शोषित-पीड़ित स्त्रियों को बहुधा बलपूर्वक पलायन कराया जाता था। लोककथा *कौवाहँकनी* की नायिका इन्हीं स्त्रियों की कथा-व्यथा की ओर संकेत करती है। लेकिन इस अध्ययन में कलकत्ता में भोजपुरी क्षेत्र की प्रवासी औरतों पर ही केंद्रित किया गया है। कलकत्ता की जूट मिलों में काम करने वाली महिलाओं के संबंध में इतिहासकार समिता सेन के अध्ययन से हमें मदद मिलती हैं। कलकत्ता में 'ज़्यादातर अस्थायी प्रवासी मर्द थे जो भी प्रवासी महिलाएँ थीं, वे अधिकतर या तो विधवा थीं या नीची जाति की बाँझ औरतें।....यही महिलाएँ घरेलू नौकर थीं जो खाना पकाने से लेकर घर की साफ़-सफ़ाई वग़ैरह करती थीं।....और बड़ी संख्या में वही महिलाएँ वेश्या बन जाती थीं।'[90] प्रवसन के समय जिन महिलाओं को पारिवारिक संरचना से छिटककर ग़ैर-पारिवारिक माहौल में रहना पड़ा, उन्हें तत्कालीन समाज द्वारा वेश्या का तगमा पहना दिया गया। समिता सेन का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'राष्ट्रवादी, सुधारक, मज़दूर संघों के कार्यकर्त्ता, पत्रकार, उपन्यासकार इत्यादि सभी उन प्रवासी महिला श्रमिकों की नैतिक मनोदशाओं को मज़बूती देने में लगे हुए थे। इनकी दृष्टि में जूट मिल की औरतें बदनामी और विकृति की प्रतीक बनी हुई थी। वहाँ जैसे ही कोई औरत टेम्पोरेरी शादी करती, उसे वेश्या का नाम मिल जाता। उन बस्तियों या लाइनों को मलिन मान लिया गया था, जहाँ वेश्यावृति, रखैल और टेम्पोरेरी शादियाँ होती हैं।'[91] इन्हीं की जीवन-स्थितियों के ऊपर गढ़ी गयी भोजपुरी की वह पूर्व उल्लिखित कहावत है-'उढ़री मेहरारू, टटिहर घर आ टेम्पोरेरी नोकरी के ओर छोर ना हऽ।'

औपनिवेशिक संस्थाओं द्वारा बटोरे गये आधिकारिक आँकड़ों से ज्ञात होता है कि भोजपुरी क्षेत्र से प्रवास करने वाले पुरुष अपनी औरतों को बहुत ही कम मात्रा में साथ ले गये। प्रवास में भी उन्होंने अपनी पत्नियों या घर की महिलाओं से मज़दूरी करवाना अपने परम्परागत संस्कार के प्रतिकूल (हेय)समझा लेकिन दूसरे उपनिवेशों में संस्कारों के टूटने व प्लांटरों की ज़्यादतियों की वजह से परिवार की स्त्रियों को भी खटना पड़ा। इधर 'रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इण्डिया' जैसे आधिकारिक प्रयासों से प्रवासी महिलाओं के काम करने के संदर्भ में जिस तरह की सूचनाएँ सामने आती हैं, उनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। 'अब्दुल हाकिम (दरभंगा से आया हुआ जूट मिल वर्कर) ने कहा- 'मेरे ज़िले के लोग अपना परिवार लेकर इस औद्योगिक इलाक़े में नहीं आते हैं।.....यदि मैं अपना परिवार लाता हूँ तो लोग मुझ पर हँसेंगे। एक बंगाली मज़दूर ने कहा 'मेरी पत्नी मिल में काम नहीं करती क्योंकि बंगाल में हमारी पत्नियाँ काम नहीं करती।' हावड़ा जूट मिल में काम करने वाली दिगम्बरी नामक मजदूरिनी ने कहा-'बंगाली-औरतें विधवा नहीं होती, तब तक वे मिलों में काम करने के लिए

[89] तोताराम सनाढ्य (1994) : 141.

[90] समिता सेन (1999), *वुमॅन ऐंड लेबर इन लेट कोलोनियल इण्डिया, जूट इण्डस्ट्री इन बंगाल 1880-1940,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 1925.

[91] वही :176.

नहीं आती।' इनके ठीक विपरीत छपरा (भोजपुरी पट्टी) से आयी हुई प्रवासी मज़दूरिनी सुकवरिया ने अपनी बात रखी–'वह अपनी पुत्रियों को काम करने के लिए इसलिए लायी है, क्योंकि वह बूढ़ी हो चली है।'[92] इन कथनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपर्युक्त कथनों में अभिव्यक्त किया हुआ सम्मानबोध उनकी सामुदायिकता की ही विचारणा है जिसमें उनकी अपनी पहचान समुदाय की पहचान में तब्दील हो गयी है, उसी पहचान की नज़रिये से वे अपना सम्मान एवं शर्म जैसी समझ रखते हैं। आख़िर अपने समुदाय की महिलाओं के बारे में ऐसा आदर्श क्यों गढ़ा जा रहा था? अर्थात् मज़दूर समुदाय अपने घर या क्षेत्र की महिलाओं द्वारा काम किये जाने को अपमान क्यों समझता था?

जाहिर है कि उस मज़दूर समुदाय द्वारा बेशक पुरुष प्रधान होने के कारण अपनी स्त्रियों को 'इज़्ज़त' की वस्तु समझना–प्रवासी श्रमिकों की सामुदायिक सम्मान पर व्यक्तिगत सम्मानबोध भी थी और मिलों में काम करने वाली महिलाओं को वेश्यावृत्ति का प्रतीक मान लिया गया था। जैसा कि तत्कालीन आधिकारिक रपटों में इस संदर्भ में सूचनाएँ एकत्रित की गयी हैं। रिपोर्ट में 'जूट मिल के मैनेजर ने कहा था–'मिल में काम करने वाली अधिकतर औरतें काम के साथ वेश्यावृत्ति भी करती हैं।'[93] ये सारी मज़दूर औरतें प्रवासी थीं। कलकत्ता में जूट मिल की महिला श्रमिक, जो वेश्या की पर्याय थीं, आगे चलकर इस रूप में परिणत हो गयी कि–'अधिकतर महिलाएँ पुरुषों के साथ रहने लगी, यद्यपि वे उनकी पत्नियाँ नहीं थीं या अधिकतर अकेली महिलाएँ जो उनके साथ रहती थीं और अपने बच्चों के साथ भी रहती थीं। इनकी घरेलू स्थिति परिवार जैसी नहीं थी।'[94] यही औरतें प्रवासी उढ़रियाँ थीं।

उपनिवेश के दिनों में जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि इस प्रदेश से घर से मजबूर होकर स्त्रियाँ न केवल कलकत्ता, झरिया, धनबाद, असम जैसे तत्कालीन औद्योगिक व बाग़ानी इलाक़ों में पलायन करती थीं बल्कि अंग्रेज़ों के अन्य उपनिवेशों में भी लिंगानुपात के संतुलन के लिए सस्ते मज़दूर के रूप में भेजी गयी। दरअसल, उन दिनों मेलों में खो जाने वाली स्त्रियाँ भी अरकाटियों के लिए आमदनी की एक बहुत अच्छी स्रोत थीं। अरकाटी उन्हें छल से कूली भर्ती डिपो में भेज देते थे।[95] ध्यान रहे कि मेलों में खो जाने वाली स्त्रियाँ देहाती थीं। भोजपुरी प्रदेश के ग्रामीण इलाक़ों से झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ मेला घुमने जाती थीं। उनके झुण्ड में से अक्सर कोई न कोई मेला में खो जाती थी। इस संबंध में उन दिनों के पुलिस रिपोर्ट भी गवाही देते हैं। इन मेलाघुमनी[96] स्त्रियों पर ही भिखारी

---

[92] रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इण्डिया, पार्ट–2 : 80, समिता सेन (1999) में उद्धृत.

[93] क्रुजेल रिपोर्ट : 12, समिता सेन (1999) में उद्धृत : 186-187.

[94] वही : 187.

[95] उत्तर भारत विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में विविध नामों से जाने जानी वाली विवाहित स्त्रियों के नामों एवं उनकी स्थितियों के संबंध में इतिहासकार शाहिद अमीन (2005) ने इस रूप में टिप्पणी की है : These (ahiwati, duah, tiuah, dholkarhi, gharkaili, dhemnani, urhari, etc.,) terms are indications of the ability of some Bhojpuri women to walk out of unhappy homes, whether natal or of the in-laws. The standard police reports about women getting lost in melas never return to home, and the significant migration of single women to the plantations in Assam and in Fijji make sense in terms of a pre-existing mobility of women, which cannot be reduced to the attaractions and enticements of a distant labour market alone. विस्तार के लिए देखें, समिता सेन (1996), 'अनसेटलिंग द हाउसहोल्ड : एक्ट VI (ऑफ़ 1901)ऐंड द रेगुलेशन ऑफ़ वुमॅन माइग्रेंट्स इन कोलोनियल बंगाल', शाहिद अमीन और मारकेल वान डर लिंडेन (सम्पा.), इंटरनैशनल रिव्यू ऑफ़ सोशल हिस्ट्री, 41; बृज वी. लाल (2000), चलो जहाजी : अ जर्नी थ्रू इंडेंचर इन फ़ीज़ी, ऑस्ट्रेलियन नैशनल युनिवर्सिटी, कैनबरा, 7, फ़ीज़ी म्यूज़ियम, सुवा. अध्याय 5 : 'ऑरिजिंस ऑफ़ गिरमिटियाज़'; अरकाटियों द्वारा छल से स्त्रियों को कुली भर्ती डिपो भेजे जाने की ख़बर मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' ने अपने उपन्यास *रामलाल* (1917) में ली है.

[96] तुलसी राम (2010) ने अपनी आत्मकथा *मुर्दहिया* में 'मेलाघुमनी' उन स्त्रियों को कहा है जो नाचने वाली कसबिन होती हैं. ख़ुद उनके शब्दों में, 'परम्परा के अनुसार (मंदिर में) छौनों की बली के साथ–साथ वेश्याओं का नाच भी देवी के सामने करवाया जाता था. ... वहाँ नाचनेवालियों का झुण्ड भी मौजूद रहा करता था. मेरे गाँव वाले इन्हें 'मेलाघुमनी' कहा करते थे.मेरे पिताजी भी नाच के लिए एक मेलाघुमनी दो रुपये में ढूँढ़ लाए. इन मूलाघुमनियों के साथ एक तबलची हुआ करता था' : 100.

ठाकुर का प्रसिद्ध नाटक गंगा स्नान और भोजपुरी के सैकड़ों गाथाओं-कथाओं को लिपिबद्ध करने वाले बाबू महादेव प्रसाद सिंह का 'मेलाघुमनी' गीतिकाव्य आधारित है। तो इन्हीं खोयी हुई स्त्रियों को बहला फुसलाकर अरकाटी कलकत्ता डिपो ले जाते थे। उन दिनों एक बार नवेली स्त्री घर से बाहर रही कि दूसरे दिन उसे घर में प्रवेश नहीं मिल सकता था। यह समझ इन स्त्रियों को मजबूरन उन्हें गर्त की ओर ले जाता था। प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'शूद्रा' में अरकाटियों द्वारा छल से उपनिवेशों में भेजी जाने वाली स्त्रियों के जीवन की सुध ली गयी है। अभी हाल ही में अंग्रेज़ी भाषा के प्रतिष्ठित भारतीय उपन्यासकार अमिताभ घोष की कृति *सी ऑफ़ पॉपीज*[97] में अदिति नामक चरित्र के बहाने सामाजिक रूप से बहिष्कृत स्त्रियों की सुध ली गयी है। इस तरह हम समझ सकते हैं कि भोजपुरी प्रदेश से स्त्रियों की प्रवसन प्रक्रिया किस तरह 'उढ़री' बनने की प्रक्रिया में तब्दील हो जाती है। इस संबंध में आगे और चर्चा है।

प्रवासी उढ़री औरतों के जीवन को समझने में भिखारी ठाकुर का साहित्य हमें पर्याप्त मदद करता है। उनके नाटक *बिदेसिया* में रण्डी (सलोनी) नामक चरित्र की उपस्थिति प्रवासी उढ़री के रूप में है। क्योंकि कलकत्ता में बिदेसी के साथ रहने से पूर्व वह भी एक प्रवासी मजदूरिनी थी। उसने बिदेसी से सामाजिक रूप से विवाह नहीं किया है। वह अपने सहकर्मी, जो भोजपुरी क्षेत्र से आया एक प्रवासी श्रमिक है, 'बिदेसी' के साथ अपने बच्चों समेत रह रही है। दोनों की शादी 'टेम्पोरेरी' है। कुछ सालों से दोनों साथ रहते आ रहे हैं। भिखारी ठाकुर ने सलोनी को 'रखेलिन' नाम से भी संबोधित किया है। 'रखेलिन' शब्द 'रखैल' का भोजपुरी है। आज महानगरीय समाज में कुछ इस तरह की 'लिव इन' नाम की संकल्पना आयी है। परंतु दोनों ही संकल्पनाएँ दो समाज और दो समय में निर्मित हुई हैं। हालाँकि दोनों में ही टेम्परेरीनेस है। लेकिन जहाँ तक इन दोनों संकल्पनाओं में सामाजिक महत्त्व की बात है तो लिव इन में रहने वाली स्त्री का सामाजिक स्टेट्स वही नहीं है जो उस उढ़री स्त्री का था। उसे सदा दोयम दर्जे का सामाजिक व्यवहार मिला है। लोकसाहित्य में उनकी उपस्थिति उसी रूप में है। भिखारी ठाकुर के नाटक में भी उस उढ़री सलोनी के साथ वैसा ही बर्ताव हुआ है। नाटक के नायक बिदेसी की पत्नी प्यारी सुंदरी का संदेश लेकर गाँव से एक बटोही आता है। वह घर की एक-एक बात याद दिलाकर बिदेसी को घर जाने के लिए व्याकुल कर देता है। परंतु ज्योंही सलोनी के बारे में पूरे विस्तार से उन्हीं आग्रहों के साथ बटोही बिदेसी को समझाने लगता है, जो बात घर से निकलते समय पत्नी प्यारी सुंदरी ने उसे समझाई थी यानी पूरब के देश में जादू-टोना जानने वाली औरतें रहती हैं, जादू से मर्दों को सुग्गा या भेड़ा बना लेती हैं इत्यादि वग़ैरह। बटोही सलोनी को रण्डी नाम से सम्बोधित करता है और उसके साथ व्यवहार भी वैसा ही करता है-

रण्डी में कुछ ना बाटे, कुत्ता जइसे हाड़ चाटे, एको घाट नाहीं तू हूँ लगबऽ बिदेसिया।
छोड़ि दऽ अधरम, मिजाज कके नरम, तूँ मनवा में कर लेहूँ सरम 'बिदेसिया'।[98]

वह जितनी सारी क़समें-वादे खा-खाकर रो रही है, सब झूठे हैं। अब तक किसी की नहीं हुई। ना पास-पड़ोस की ना, सास-ससुर की। न ससुराल की, न नैहर की। अंत में बटोही सलोनी को भी समझाता है। 'ऐ बाड़ी वाली। बात मानो, बिना विचार के काम मत करो। थोड़ा कहता हूँ, पूरा समझो। अपना चाल-चलन, रहन-सहन अच्छा बना लो। मेरे कहने से बिदेसी को जाने दो। तुम्हारा बाज़ार बना हुआ है, तुम्हें बहुत 'छैल चिकनियाँ' (कामी पुरुष) मिल जाएँगे।'[99] पर वह नहीं मानती है। भिखारी ठाकुर के *बिदेसिया* की रखेलिन के साथ जिस दौर में यह बर्ताव हुआ, वह बींसवी सदी का तीसरा

---

[97] अमिताभ घोष (2008), *सी ऑफ़ पॉपीज़*, पेंगुइन, नयी दिल्ली.
[98] वीरेंद्रनारायण यादव व नागेंद्र प्रसाद सिंह (2005) : 46.
[99] वही : 46.

दशक है। इस संदर्भ में फ़ीज़ी में 21 वर्षों तक प्रवासी रह चुके और प्रवासियों के हितार्थ संघर्ष करने वाले पं. तोताराम सनाढ्य के लिए प्रवासी महिलाओं को धोखा देकर घर लौट जाने वाले प्रवासी श्रमिकों का चरित्र भी एक मुद्दा था। उन्होंने 1914 में कहा था कि–'फ़ीज़ी से वापस लौटकर आने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग देश में आकर यह विचार करते हैं कि फ़ीज़ी की विवाहित स्त्री को यदि घर ले जाएँगे तो समाज के अनुसार घर में रहने पावेंगे ? इस विचार से धोखा देकर फ़ीज़ी की स्त्री को छोड़कर भाग जाते हैं और अपने घर-गाँव का झूठा पता फ़ीज़ी की स्त्रियों को बता देते हैं, जिससे वे स्त्रियाँ उनको ढूँढ़ भी नहीं सकती। फ़ीज़ी से चलते वक़्त आधा रुपये स्त्री के नाम लिखा देते हैं।'[100] उन्हीं दिनों बाबा रामचंद्र के इस कथन पर भी ग़ौर करें कि कैसे वे अपने पत्नी से अलग हुए थे– 'मैंने अपने मक़ानों व ज़मीन को अपने म्यारेज किये हुवे चमारिन के नाम करा कर उसके म्यारेज को भी ख़ारिज कर दिया।... बाक़ी के कपड़े बिछोने बर्तन आदि सांसारिक चीज़ें व उतम फ़ोटो, वह हाथ के लिखे हुए कई काग़ज़ों को वहीं छोड़ उसी स्त्री के अर्पण कर दिया।'[101] ग़ौरतलब है कि ये वही बाबा रामचंद्र हैं जिन्होंने अवध का किसान आंदोलन का नेतृत्व किया था। ये मराठी ब्राह्मण थे। रोज़ी-रोटी की तलाश में ये फ़ीज़ी पहुँच गये थे। वहाँ एक सुंदर चमारिन से शादी कर लिया। मज़ेदार बात एक और है कि इन्होंने अपने लेखन में कहीं भी उस 'सुंदर चमारिन' के नाम का ज़िक्र तक नहीं किया है। बल्कि बाद के लेखन में उस स्त्री को 'तामसी क्रूर स्वभाव' वाली कहा है। तब वे बेहद धार्मिक हो गये थे। गिरमिट का अनुबंध ख़त्म होने और अपने वतन हिंदुस्तान लौटते वक़्त उन्होंने अपनी पत्नी को, जैसा कि पण्डित तोताराम ने कहा कि, कुछ सामान देकर अपने को विवाह संबंध से मुक्त कर लिया। प्रवासी स्त्रियों के साथ यह धोखाधड़ी न केवल फ़ीज़ी देश से लौटने वाले श्रमिक करते थे वरन् अन्य औपनिवेशिक देशों और हिंदुस्तान में भी कलकत्ता वग़ैरह में करते थे। इस दृष्टि से *बिदेसिया* की सलोनी (रण्डी) के साथ ठीक वैसी ही धोखाधड़ी हुई है। जैसा कि वह पहले बिदेसी को घर न जाने देने के लिए हर यथासम्भव प्रयास कर रही थी। उसने बिदेसी से कहा था–

घरे चलि जइबऽ लवटि के ना अइबऽ, तूँ आस तुरि के सब नास कइलऽ बलमुआँ।
असल के हईं बेटी, इरिखे फँसल बा नेटी, कर तूरि घर जनि जइहऽ बलमुआँ।[102]

अर्थात् हे बालम घर चले जाओगे, लौटकर फिर नहीं आओगे। तुमने हमारी सारी आशाएँ नष्ट कर दी। गाँव जाओगे, प्राण त्याग दूँगी। ... माता-पिता, भाई-भाभी, घर-द्वार, जाति-कुल, ख़ानदान, परिवार, यहाँ तक कि अपना समस्त समाज छोड़कर तुम्हारे पास आयी हूँ। सलोनी का यह कथन बिदेसी के प्रति उसके प्रेम की गहराई को दर्शाता है। सलोनी जैसी स्त्रियों का प्रेम ही तो होता है, जो उन्हें शराबी पति को छोड़ देना भी गँवारा नहीं होता है। जरा इस लोक-गीत को देखिए–

बाबू दारोगाजी कवने गुनहिये बन्हली पियवा मोर।
ना मोर पियवा चर रे चमरवा, ना मोर पियवा चोर।
मोर त पिअवा मधुवा के मातल, रहले सड़किया पर सोई।
अन्नी दुअन्नी सिपाहिया के देवो, पाँच रूपइया जमादार।
ई दुनो जोबना कलटर के देबो, पिअवा के लेबो छोड़ाई।[103]

अर्थात् 'ऐ दारोगा बाबू किस कारण मेरे पिया को आपने बाँध रखा है। मेरे पिया चोर-चमार नहीं हैं बल्कि वे मदिरा पी लिए थे और सड़क पर सो गये थे। देखो नहीं छोड़ोगे तो एकनी-दुअन्नी सिपाही को दूँगी, जमादार को पाँच रुपया दूँगी। ये दोनों 'जोबन' कलक्टर साहब को देकर अपने पिया

---

[100] तोता राम सनाढ्य (1994) : 143-44.
[101] *बाबा रामचंद्र पेपर्स* (बीआरपी), स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्ज़ (एसडब्ल्यू), सीरियल नं 2डी : 20.
[102] वीरेंद्रनारायण यादव व नागेंद्र प्रसाद सिंह (2005) : 46.
[103] दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह (1994), *भोजपुरी लोक-गीत में करुण रस*, हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग : 230.

को छुड़ा लूँगी। इसलिए दारोगा बाबू मेरे पिया को छोड़ दीजिए।' ज़रा इस गीत पर गौर फ़रमाएँ। एक, औपनिवेशिक शासन ने कुछ जातियों को अपराधी घोषित किया था। दूसरे, यह बड़ी ताज्जुब की बात है कि पत्नी पति को परमेश्वर रूप में यह स्त्री भी अन्य स्त्रियों तरह ही मानती है तभी तो वह चोरी करने वाले, बेरोज़गार शराबी पति को भी छोड़ नहीं पाती है। वह औपनिवेशक शासन की पुलिस व्यवस्था से लेकर सामंती व्यवस्था के अवशेषों से संघर्ष करती है। भिखारी ठाकुर की सलोनी 'उढ़री' नाम की सामाजिक पीड़ा को बेहतर ढंग से समझती है। परिवार से उसे संरक्षण और सम्मान मिलेगा। सामाजिक कचोटों से वह मुक्त रहेगी। लेकिन जैसे ही उसका पति उसे छोड़कर गाँव भाग जाता है, उसके सारे सपने चकनाचूर हो जाते हैं। बड़ा दिलचस्प है कि सलोनी एक उढ़री का जीवन जी रही थी लेकिन वह स्वयं को उढ़री के रूप में नहीं देख रही थी। यहाँ यह कहना बेमानी नहीं होगा कि मनुष्य तथाकथित सामाजिक रूप से कितना भी निम्न क्यों न हो उसके आदर्श भी ऊँच वर्गीय आदर्शों के अनुकूल ही होते हैं। अर्थात् 'इन प्रवासी उढ़रियों का आदर्श परिवार का आदर्श अवश्य था और अपने समुदाय के संस्कार-आदर्श भी।'[104] चूँकि संस्कार अत्यंत प्रतिकूल वातावरण में भी जीवित रहना जानते हैं। अपने संस्कारों के कारण ही कलकत्ता की वेश्याएँ भी अपने खानपान में भेद-भाव रखती थीं। उन दिनों के हिंदी साप्ताहिक समाचार पत्र *विश्वामित्र* में ए. पी. मिश्र ने लिखा था-'वेश्यालयों में विभिन्न हिंदू जाति की स्त्रियाँ रहती हैं। इस संबंध में एक विचित्र बात यह है कि यद्यपि ये स्त्रियाँ पेशे को अख़्तियार करने के बाद हिंदू समाज के उत्पीड़न से मुक्त हो जाती हैं, फिर भी ख़ान-पान के मामले में हम पेशेवर होते हुए भी एक-दूसरे के प्रति जाति-भेद रखती हैं। यद्यपि उनके यहाँ सब जातियों के आदमी आते हैं। यहाँ तक कि मुसलमान भी, फिर भी खान-पान के मामले में वे अपनी कट्टरता अक्षुण्ण बनाये रखती हैं।'[105] इस कथन के आधार पर कह सकते हैं कि जब विशुद्ध वेश्यालयों में हिंदुस्तानी समाज के प्रत्येक समुदाय का संस्कार जीवित रह सकता है तो फिर बस्तियों या लाइनों में रहने वाली, बहुत कुछ परिवार की तरह रहने वाली इन प्रवासी उढ़रियों में वह संस्कार जीवित कैसे नहीं रह सकता है?

पूरब से लायी जाने वाली औरतों के प्रति किया जाने वाला व्यवहार भी एक गम्भीर मसला रहा है। इन स्त्रियों का आगमन सबसे पहले पारिवारिक ढाँचे पर असर डालता है। लोक-संस्कृति में जिनकी छवि विविध रूपों में चित्रित है। उपनिवेश पूर्व या औपनिवेशिक दौर में बहुत लोग पत्नी के रूप में स्त्रियों को भी लेकर आये। वे नारियाँ अपनी स्थानीय संस्कृति के साथ शहर में रहने के कारण कुछ शहरी मूल्यों को भी लेती आयीं। लोक-साहित्य विशेष रूप से स्त्रियों के गीतों से पता चलता है कि उन नारियों के प्रति भोजपुरी लोक-समाज ने बेहद बेरहमी की है। यह बेरहम व्यवहार भोजपुरी लोक-साहित्य में दिखायी देता है। लोक-समाज ने उसे सदा हीन समझा है और यहाँ तक कि 'रण्डी' भी कहा है। उसे हेय देखे जाने की वजह है, उसकी जाति का पता न होना और यह मान लेना कि वह निम्न-जाति की ही होगी। हीन-ग्रंथि या शोषण से तंग आकर कुछ स्त्रियाँ बंगाल यानी वे जहाँ से आयी थीं, वहाँ लौट गयीं[106] तो कुछेक ने तालाब या कुएँ में अपनी जान दी और कुछेक ने ज़हर खाकर मुक्ति की शरण ली। भोजपुरी लोक-गीतों में बंगाल या मोरंग से आयी हुई ऐसी नारियाँ बहुतायत मात्रा में मौजूद हैं। बड़ा दिलचस्प है कि प्रवासी व्यापारी या सिपाही या फिर श्रमिक कहीं से भी अपने

---

[104] धनंजय सिंह (2008), *भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति और भिखारी ठाकुर का साहित्य,* वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान, नोएडा : 44.

[105] *विश्वमित्र,* नवम्बर (1934), माइक्रोफ़िल्म, एनएमएमएल, दिल्ली.

[106] तुलसी राम (2010).

घर स्त्री लाता है, गाँव-घर उस स्त्री को 'बंगालिन' नाम से ही सम्बोधित करता है। परिवार समाज की पहली इकाई है। उन नारियों के प्रति दोयम दर्जे का व्यवहार अधिकांशतः समाज की पहली इकाई द्वारा ही हुआ है। ज़रा इस लोक-गीत को देखिए-

बोअलो में गोहुआँ उपजि गइली अंकरी, मेडवा बइठल प्रभु झँखेली रे की।
जनि प्रभु झँखहुँ जनि प्रभु झुरवहु, अंकरी बदलि गोहुवाँ पीसब रे की। ...[107]

इस जँतसारी लोक-गीत में पति एक और पत्नी पूरुबी बंगालिन घर में ले आया है। वह खेत पर काम करने चला गया है। इधर घर में सौतिया डाह से पहली पत्नी ने अपनी बड़ी गोतिनी की सलाह से उस बंगालिन सौतन को खाना में ज़हर दे दिया। ज़हर से बंगालिन का माथा घूमने लगा तो वह धौरहर पर जाकर सो गयी। पति खेत से हल चलाकर लौटा तो पूछा कि वह सभी को तो देख रहा है परंतु उसकी पूरब देस की बंगालिन नहीं दिख रही है। जेठानी ने उत्तर दिया-'तुम्हारी नयी बहू गर्व और गुमान में माती हुई है वह धौरहरे पर सो रही है।' क्रोध में आकर वह धौरहरे पर सोई अपनी बंगालिन को एक पैना (जिससे बैल को हल चलाते वक़्त हाँका जाता है।) मारा, दूसरा पैना मारा लेकिन वह नहीं बोली। वह बोले भी कैसे, वह तो मर चुकी थी। यह बड़ी मजेदार बात है कि बंगाल में जो औरतें प्रवासी मर्दों को अपने जादू टोना से सुग्गा या भेड़ा बना लेती थीं, वही उनके (जिन मर्दों के साथ प्रवास में रहती थी) गाँव लौटने पर उनके सारे जादू टोना फ़िस्स हो जाते हैं।

निष्कर्ष

निःसंदेह उन्नीसवीं सदी का श्रम-प्रवसन अंग्रेज़ी हुक़ूमत और प्राकृतिक मार की वजह से चरम पर पहुँच गया था। जिसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति *बिदेसिया* के रूप में अपना रूपाकार ग्रहण कर रही थी और 20 वीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते एक सम्पूर्ण लोक-संस्कृति बन जाती है। बेशक *बिदेसिया* लोक-संस्कृति को लोकप्रिय बनाने में भिखारी ठाकुर का योगदान अभूतपूर्व रहा है। दूसरे शब्दों में, *बिदेसिया* के पर्याय भिखारी ठाकुर के नाटक *बिदेसिया* और *गबरघिचोर* प्रवसन संबंधों की देन हैं। जो भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों के इतिहास लेखन का कारण बनते हैं। बतौर नाटक *बिदेसिया* गाँव और शहर के बीच बँटी ज़िंदगी की दास्तान है तो *गबरघिचोर* प्रवसन की वजह से नाजायज़ संबंधों से उत्पन्न बच्चों की त्रासद गाथा है। *गबरघिचोर* नाटक में गबरघिचोर मासूमियत से सवाल करता है कि उसके दो पिता कैसे हुए और क्यों उसे दोनों पिताओं में सम्पति की तरह बाँटा जा रहा है? इसी तरह *बिदेसिया* में उढ़री सलोनी का बेटा सवाल करता है कि उसकी दो माताएँ कैसे हुईं? इन बच्चों का सवाल प्रवसन संबंधों को विलेन की तरह खड़ा करता है। प्रवसन से उत्पन्न इन सवालों से संस्कृति के इतिहास में टकराते हुए भिखारी ठाकुर ही दिखाई पड़ते हैं। उन दिनों इन सवालों की ओर हिंदी साहित्य की नज़र भी नहीं गयी

भोजपुरी की मौखिक परम्परा ने समाज से परित्यक्त, विधवा, वंध्या व शोषित-दलित स्त्रियों के प्रवसन करने एवं प्रवास में पुरुषों के साथ उढ़री जीवन जीने तथा पुरुषों के घर लौटते समय की छवि को नकारात्मक रूप में ही पेश किया है। समय भिखारी ठाकुर के साहित्य में पारिवारिक जीवन आदर्शों को ही अपना आदर्श समझती हैं। भिखारी प्रवासी उढ़रियों को पारिवारिक संरक्षण देकर, उन्हें जो सम्मान देते हैं। वह भोजपुरी साहित्य क्या, तत्कालीन मुख्यधारा के समग्र साहित्य में देखने को नहीं मिलता है। प्रवासी उढ़रियों को पारिवारिक मर्यादा देकर भिखारी ठाकुर ने तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के लिए

[107] दुर्गा शंकर प्रसाद सिंह (1944) : 78.

बहुत बड़ा प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी क़दम उठाया था। समग्र भोजपुरी संस्कृति व समाज ने उन्हें सदैव हेय दृष्टि से देखा था। उनके बाद भोजपुरी संस्कृति में प्रवासी उढ़रियों की उपस्थिति देखने को नहीं मिलती है।

संदर्भ

अख़्तर हुसैन रायपुरी (1933), *मज़दूर*, *विश्वमित्र,* मासिक हिंदी समाचारपत्र, अगस्त.

अर्जन डी हैन (1997), 'अनसेटल्ड सेटलर्स : माइग्रेंट वर्कर्स ऐंड इण्डस्ट्रियल कैपिटलिज़म इन कैलकटा', मॉडर्न एशियन स्टडीज़, खण्ड 31, अंक 4.

अर्जन डी हैन (2003), 'कैलकटाज़ लेबर माइग्रेंट्स : एनकाउंटर्स विद मॉडर्निटी', कंट्रीब्यूशंस टू इण्डियन सोसियोलॅजी, खण्ड 37, अंक 189.

अमिताभ घोष (2008), *सी ऑफ़ पॉपीज़,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

आनंद ए. यांग (1989), *द लिमिटेड राज : एग्रेरियन रिलेशन इन कोलोनियल इण्डिया, सारण डिस्ट्रिक्ट, 1793-1920,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

आनंद ए. यांग (1989), 'पीज़ेंट ऑन द मूव : ए स्टडी ऑफ़ इंटरनल माग्रेशन इन इण्डिया', *जर्नल ऑफ़ द इंटरडिसिप्लिनरी हिस्ट्री,* खण्ड 10, अंक 1.

उदयनारायण तिवारी (1984), *भोजपुरी भाषा और साहित्य,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.

उदयनारायण गंगु (2002), *मॉरीशस का भोजपुरी लोकसाहित्य एवं भारतीय संस्कृति,* महात्मा गांधी संस्थान, मॉरीशस, मोका.

उषा वर्मा (2000), *मौखिक स्त्री लोकनाट्य 'डोमकच', 'छायानट',* संगीत नाटक अकादमी, उत्तर प्रदेश, मासिक पत्रिका, लखनऊ, अंक-95.

कमला सिंह, (1991), *पूर्वांचल के श्रम लोक-गीत,* परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद.

कमूल अब्बी (2013), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ लंग्विस्टिक्स, कल्चरल रिकवरी ऐंड रीएसर्शन : भोजपुरी पॉपुलेशन ऐंड इट्स फ़िल्म्स', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड xlviii, अंक 33.

कृष्णदेव उपाध्याय (1957), *भोजपुरी और उसका साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

कृष्णदेव उपाध्याय (1966), *भोजपुरी लोक-गीत,* भाग-2, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.

कृष्णदेव उपाध्याय (1990)(सम्पा.), *हिंदी प्रदेश के लोक-गीत,* साहित्य भवन (प्रा.) लि., इलाहाबाद.

के.एम. सिंह, आर.के.पी. सिंह और अंजनी कुमार (2013), *मेल वर्कर्स माइग्रेशन ऐंड वुमॅन इम्पावरमेंट : द केस ऑफ़ बिहार, इण्डिया,* एमपीआरए पेपर 49385, युनिवर्सिटी लाइब्रेरी ऑफ़ म्यूनिख़, जर्मनी.

के.एल. गिलियन (1973), *फ़ीजीज़ इण्डियन माइग्रेंट्स : अ हिस्ट्री टू द ऐंड ऑफ़ इंडेंचर इन 1920,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मेलबॅर्न.

केदार चौधरी (1993), *भिखारी ठाकुर के नाटकों में लोकजीवन,* जे.एन.यू., एम. फ़िल. शोध कार्य, नयी दिल्ली, अप्रकाशित.

गौरीशंकर राजहंस (2007), 'अपने देश की मदद करते प्रवासी मज़दूर', *प्रभात ख़बर,* पटना.

चंद्रशेखर प्रसाद (1993), सबाल्टर्न आर्टिकुलेशन ऑफ़ एस्पिरेशंस : एग्ज़ामिनिंग द बिदेसिया डांस-ड्रामा फ़ॉर्म ऑफ़ द भोजपुरी रीजन, जे.एन.यू. एम.फ़िल. शोध.

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी (1985), *फ़ीज़ी में प्रवासी भारतीय,* भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली.

जी.ए. ग्रियर्सन (1884), *सेविन ग्रैमर्स ऑफ़ द डायलेक्ट्स ऐंड सबोर्डिनेट्स ऑफ़ द बिहारी लेंग्वेज पार्ट II, सिलेक्शंस फ़्रॉम द भोजपुरी डायलेक्ट्स कन्वर्जेशंस, फ़ेबिल्स, भोजपुरी सोंग्ज़,* एपेंडिक्स I.

जॉर्ज ए. ग्रियर्सन (1884), 'सम भोजपुरी फॉक-सांग्ज़', *जर्नल ऑफ़ रॉयल एसियाटिक सोसाइटी,* खण्ड 18.

जॉर्ज ए. ग्रियर्सन (1884), 'सम बिहारी फॉक-सांग्ज़', *जर्नल ऑफ़ रॉयल एसियाटिक सोसाइटी,* न्यू सीरीज़, खण्ड 16, अंक 2.

जॉन वानसिना (1985), ओरल ट्रेडिशन एज़ हिस्ट्री, द युनिवर्सिटी ऑफ़ द विनकोंसिन प्रेस, विनकोंसिन.

डब्ल्यू.जी. आर्चर और संकटा प्रसाद (1943), *भोजपुरी ग्राम्य गीत,* पटना लॉ प्रेस, पटना.

डी.एन. राय (2004), *लोककलाकार भिखारी ठाकुर : इयादन के खोह से,* माधव मुद्रणालय, छपरा.

तुलसीराम (2010), *मुर्दहिया,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

तैयब हुसैन 'पीड़ित'(2008), *भिखारी ठाकुर,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

तोताराम सनाढ्य (1994), *भूतलेन की कथा,* योगेंद्र यादव एवं बृज वी लाल (सम्पा.), सरस्वती प्रकाशन, नयी दिल्ली.

दीपेश चक्रवर्ती (1989), *रिथिंकिंग ऑफ़ वर्किंग क्लास हिस्ट्री, बंगाल-1890-1940,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, *भोजपुरी के कवि और काव्य,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.

दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह (1994), *भोजपुरी लोक-गीत में करुण रस,* हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग.

देवकुमार मिश्र (1983), *सोन के पानी का रंग,* सोनक्षेत्रीय विंध्य-गांगेय संस्कृति के जीवन की गाथा, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल.

धनंजय सिंह (2008), *भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति और भिखारी ठाकुर का साहित्य,* वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान, नोएडा.

धीरा वर्मा (2000)), 'फ़ीज़ी के हिंदी लोक-गीत : गिरमिटियों के मौखिक दस्तावेज़', *गगनांचल*- अप्रैल-जून, त्रैमासिक पत्रिका, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली.
प्रेमचंद (1936), *गोदान,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2002.
बृज वी. लाल (2000), *चलो जहाजी : अ जर्नी थ्रू इंडेंचर इन फ़ीज़ी,* ऑस्ट्रेलियन नैशनल युनिवर्सिटी, कैनबरा, 7, फ़ीज़ी म्यूज़ियम, सुवा.
बृज वी. लाल (2005), *फ़ीज़ी यात्रा : आधी रात से आगे,* नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
बाबा रामचंद्र पेपर्स (बीआरपी), स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्ज़ (एसडब्ल्यू), सीरियल नं 2 डी.
भारतेंदु हरिश्चंद्र (1958), *हिंदी भाषा* (पटना, खड्गविलास प्रेस, 1882).
मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' (1917), *रामलाल,* इण्डियन प्रेस, प्रयाग.
मिथिलेश्वर (2009), *भोजपुरी लोककथा,* नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
राजेंद्र यादव, *अनपढ़ बनाये रखने की साजिश,* काँटे की बात-सीरीज़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
रत्नाकर त्रिपाठी (2012), म्यूज़िक मैनिया इन स्माल टाउन बिहार : इमरजेंस ऑफ़ वर्नाकुलर आइडेंटिटीज़, इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड xlvii, अंक 22.
राम नरेश त्रिपाठी (सम्पा.) (1931), घाघ और भड्डरी, हिंदुस्तानी अकादेमी, इलाहाबाद.
रामनरेश त्रिपाठी (1951), *ग्राम साहित्य,* भाग-1, हिंदी मंदिर, प्रयाग.
रामनरेश त्रिपाठी (1952), *ग्राम साहित्य,* भाग-3, आत्मा राम ऐंड संस, नयी दिल्ली.
राही मासूम रज़ा (1966), *आधा गाँव* , राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
विष्णुकांत पाठक (2009)(सम्पा.), 'घाघ भड्डरी की कहावतें', प्रकाश पब्लिकेशन, प्रकाशन वर्ष अनुमानित, नयी दिल्ली.
वीरेंद्रनारायण यादव व नागेंद्र प्रसाद सिंह (सम्पा.) (2005), *भिखारी ठाकुर रचनावली,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
शाहिद अमीन (2005), *अ कंसाइज़ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ नॉर्थ इण्डियन पीज़ेंट लाइफ़,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली.
शशिशेखर तिवारी (1943), *भोजपुरी लोकोक्तियाँ,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
शाहिद अमीन व ज्ञानेंद्र पाण्डेय (2002)(सम्पा.), *निम्नवर्गीय प्रसंग, भाग-1,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
श्रीधर मिश्र (1971), *भोजपुरी लोकसाहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन,* हिंदुस्तानी अकादमी, प्रयाग.
श्रीविक्रमादित्य मिश्र (सम्पा.) (1981), *पहेली-कोश,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
सव्यसाची भट्टाचार्य (2008), *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,* अनुवाद महेश्वर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
समिता सेन (1999), *वुमॅन ऐंड लेबर इन लेट कोलोनियल इण्डिया, जूट इण्डस्ट्री इन बंगाल 1880-1940,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
संजीव (2003), *सूत्रधार,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
सुचीता रामदीन (1989), *संस्कार मंजरी,* महात्मा गांधी संस्थान प्रकाशन, मॉरीशस.
सुभाष चंद्र कुशवाहा, *क्यों गुमनाम रहे लोककलाकार रसूल ?,* लोकरंग सांस्कृतिक समिति, कुशीनगर ,उत्तर प्रदेश, http://www.lokrang.in/lokrang-new/?page_id=76.
सुरेश गौतम (2010), *भारतीय लोकसाहित्य कोश,* भाग-6, संजय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
ह्यू टिंकर (1974), *अ न्यू सिस्टम ऑफ़ स्लेवरी : द एक्सपोर्ट ऑफ़ इण्डियन लेबर ओवरसीज़, 1830-1920,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
हंसकुमार तिवारी (1977), *भोजपुरी संस्कार गीत,* बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना.